धर्मायण

(धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना की पत्रिका)

मूल्य : 45 रुपये
अंक 133
श्रावण,
2080 वि. सं.

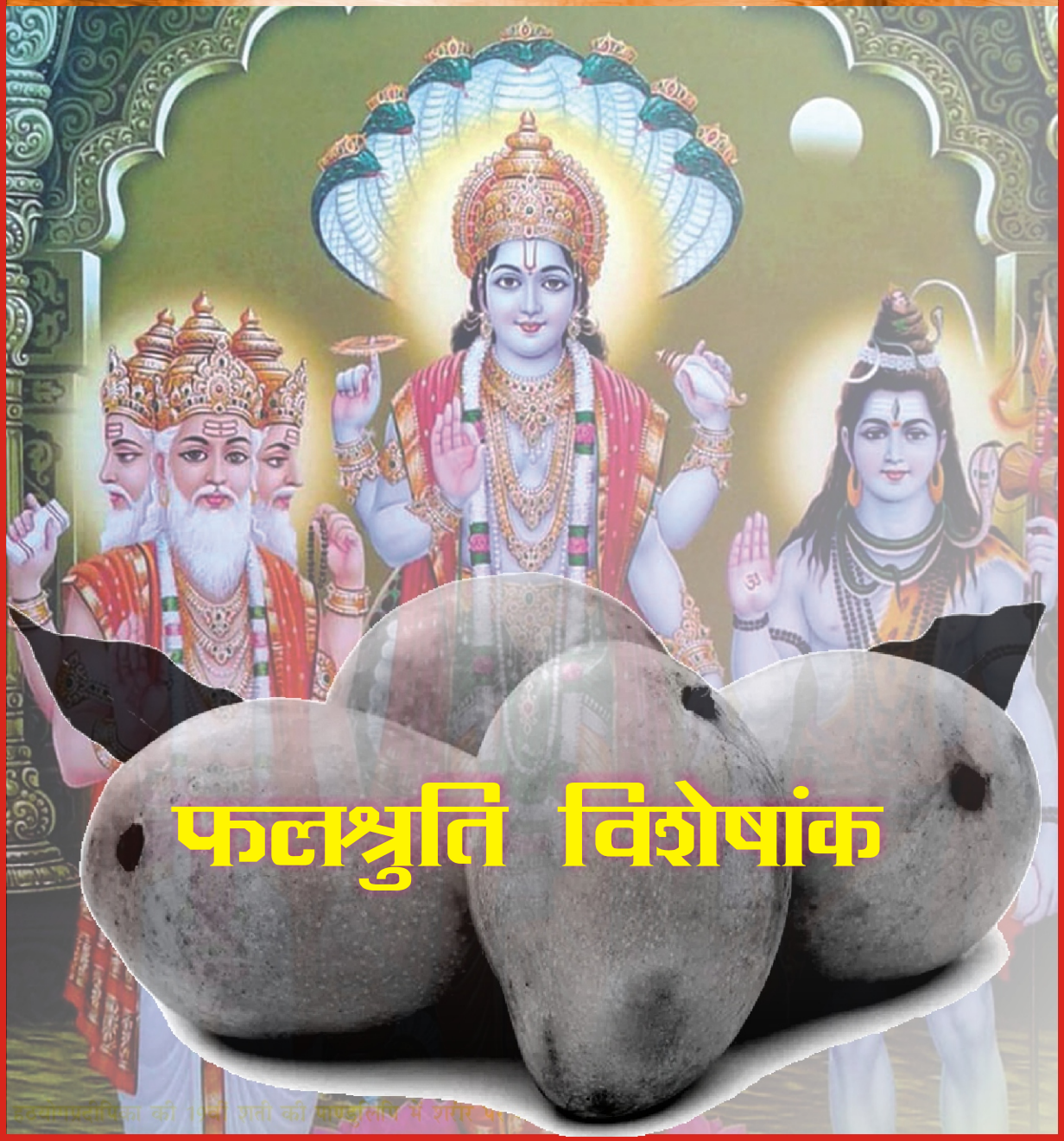

फलश्रुति विशेषांक

विराट रामायण मन्दिर के निर्माण-कार्य का शुभारम्भ

धर्मायण

Title Code–BIHHIN00719

आलेख-सूची

1. **कर्म एवं ज्ञान के फल का समन्वय** -सम्पादकीय 3
2. **मीमांसा-दर्शन में अर्थवाद**
   - विद्यावाचस्पति महेश प्रसाद पाठक 11
3. **लौंगाक्षि-भास्कर द्वारा प्रतिपादित अर्थवाद**
   - डा. दयाशंकर शास्त्री 16
4. **संस्कृत साहित्य में स्तोत्र : एक परिशीलन**
   - डा. ममता मिश्र 'दाश' 20
5. **फलश्रुति से ईश्वर की ओर अग्रसर होता मानव**
   - श्री महेश शर्मा 'अनुराग' 30
6. **देवी माहात्म्य के परिप्रेक्ष्य में फलश्रुति**
   - पं. मार्कण्डेय शारदेय 31
7. **फलश्रुति : प्रवृत्ति एवं निवृत्ति धर्म के सन्दर्भ में**
   - डा. सुदर्शन श्रीनिवास शाण्डिल्य 36
8. **फलश्रुति की व्यापक भूमिका**
   - श्रीमती रंजू मिश्रा 39
9. **फलश्रुति और कर्मवाद का सिद्धान्त**
   - डा. राजेन्द्र राज 45
10. **मन्दिर-अर्चा में ध्यान की भूमिका** (शोध-आलेख)
    - डा. दीपा दुराइस्वामी 50
11. **असमिया रामायण से दशरथजी का विवाह प्रसंग**
    - डॉ. नरेन्द्रकुमार मेहता 60
12. **नायर-जाति की अक्षुण्ण सामाजिक प्रथाएँ**
    - श्री राहुल सिंह गौतम 65
13. **रामचरितमानस की रामकथा** - आचार्य सीताराम चतुर्वेदी 70
14. **महावीर मन्दिर समाचार,** व्रतपर्व एवं अन्य स्थायी स्तम्भ 76

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखक के हैं। इनसे सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं है। हम प्रबुद्ध रचनाकारों की अप्रकाशित, मौलिक एवं शोधपरक रचनाओं का स्वागत करते हैं। रचनाकारों से निवेदन है कि सन्दर्भ-संकेत अवश्य दें।

धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना की पत्रिका

अंक 133
श्रावण, 2080 वि. सं.
4 जुलाई-31 अगस्त, 2023ई.
(मलमास)

सम्पादक
भवनाथ झा

पत्राचार :
महावीर मन्दिर,
पटना रेलवे जंक्शन के सामने
पटना–800001, बिहार
फोन: 0612–2223798
मोबाइल: 9334468400

E–mail:
dharmayanhindi@gmail.com

Website:
www.mahavirmandirpatna.org/dharmayan/

Whatsapp:
9334468400

मूल्य : 45 रुपये

पाठकीय प्रतिक्रिया

(अंक संख्या 132, आषाढ़, 2080 वि.सं.

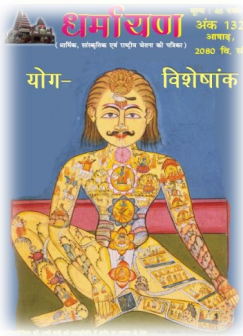

'धर्मायण' का यह योग अंक शास्त्रीय आलेखों का संग्रह है। सम्पादकीय आलेख में विद्वान् सम्पादक डा भवनाथ झा जी ने योग के शास्त्रीय व व्यावहारिक पक्ष को प्रकाशित कर इस अंक की मानो सुन्दर प्रस्तावना प्रस्तुत कर दी है जो पाठकों के लिए बोधगम्य सिद्ध हुआ है। इस अंक के सभी विद्वान् लेखकों के आलेख जहाँ विद्वान् पाठकों के लिए शास्त्रीय समालोचना के आधार स्तम्भ हैं, वहीं सामान्य पाठकों के लिए यह अंक योग को समझने सीखने के लिए एक पाठशाला है।

शम्भुनाथ शास्त्री

'धर्मायण' का योग विशेषांक विशिष्ट है। पिछले विशेषांकों के समान अद्वितीय है। एक माह के भीतर इतने सारे गम्भीर और गवेषणात्मक आलेख को पत्रिका में संकलन करना एकाग्रता का परिचायक है। भारतीय योग विद्या पर गहनता तथा व्यापकता के साथ अध्ययन,मनन एवं चिन्तन से ही ऐसे आलेख पाठकों के समक्ष आते हैं। आदरणीय विद्वान और भारतीय संस्कृति तथा दर्शन के अध्येता सम्पादक जी के समर्पण का प्रतिफल है यह योग विशेषांक अंक। ऐसे गम्भीर और शास्त्रीयता के साथ आधुनिकता के विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते युग के बीच विशेषांक हमें प्रचुर सामग्री देते हैं। इतने खोजपूर्ण आलेखों के संकलन में तो महीनों, वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। सम्पादकय में पूर्णतः भारतीय योग विद्या को परिभाषित करते हुए वर्तमान समय में इसके नाम पर दिखावे की प्रवृत्ति पर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। वेदों से लेकर उपनिषदों, पुराणों और योग विद्या के प्रवर्तकों तथा आधुनिक स्थितियों का गहन विश्लेषण एक साथ इस आषाढ़ अंक में मिलता है। ऐसी विशिष्टता धर्मायण में ही संभव है। सम्पादक जी के कठिन परिश्रम तथा साधना का यह विशेष उपहार है योग विशेषांक। विद्वान लेखकों, चिन्तकों और साधकों को नमन।

-डा. राजेन्द्र राज

योग अंक— बहुत सुन्दर और सुनियोजित सामग्री का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन हुआ है। बहुत गम्भीर विषय वस्तु है... सम्पादकीय ही पढ़ रहा हूँ... भवजी आपको बधाई और अभिनन्दन...।

-डा. श्रीकृष्ण जुगनू

आपको यह अंक कैसा लगा? इसकी सूचना हमें दें। पाठकीय प्रतिक्रियाएँ आमन्त्रित हैं। इसे हमारे ईमेल dharmayanhindi@gmail.com पर अथवा ह्वाट्सएप सं.–+91 9334468400 पर भेज सकते हैं।

'धर्मायण' का अग्रिम अंक **शापकथा-विशेषांक** के रूप में प्रस्तावित है। सनातन साहित्य के लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में देवता, मुनि, ब्राह्मण, गुरु आदि के द्वारा शाप देने का उल्लेख हुआ है। प्रथमतः तो यह शाप एक असहज घटना प्रतीत होती है, लेकिन इनका विश्लेषण इस प्रकार किया गया है कि अन्ततः यह लोककल्याणकारी सिद्ध होता है। रामचरितमानस में ही जितने शापप्रसंग हैं, वे सामान्य जन के उपकारक सिद्ध हुए हैं। "*मुनि श्राप जो दीन्हा* अति भल *कीन्हा* परम अनुग्रह मैं माना।" की स्थिति सर्वत्र दिखाई देती है।

कर्म एवं ज्ञान के फल का समन्वय

सम्पादकीय

—भवनाथ झा

फल की इच्छा किसे नहीं होती है? और कोई क्रिया तबतक क्रिया नहीं कहलायेगी जबतक कि उसका कोई परिणाम न निकले। हम जाने की क्रिया को तबतक पूर्ण नहीं मानेंगे जबतक स्थान परिवर्तन न हो। ईश्वर को हमने सर्वशक्तिमान् माना है तो उनकी उपासना भी निष्फल नहीं हो सकती है। हम उपासना करेंगे तो देवता प्रसन्न होंगे और वे प्रसन्न होंगे तो हमें प्रसन्नता देंगे। चूँकि ईश्वर अघटन-घटना-पटु हैं तो यानी वे सर्वसमर्थ हैं, सबकुछ कर सकते हैं तो हमें जो लौकिक जगत् में मिल नहीं पा रहा है, उसे भी वे देने में समर्थ हैं। अतः उपासना की फलश्रुति ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का शाब्दिक प्रतिपादन है। सकाम कर्म के जो फल हमारे ग्रन्थों में कहे गये हैं, वे प्रथमतः इस रूप में व्याख्यायित किए जा सकते हैं।

निष्काम कर्म का फल यदि सायुज्य है, जो हमें भौतिक सुखों से दूर रहकर मोक्ष के लिए प्रेरित करता है तो वहाँ भी फलश्रुति हमें दिखाई पड़ती है। सांसारिक सुख के लिए सांसारिक प्रयास करना चाहिए जैसे हमें यदि जल पीने की इच्छा है तो हमें जलाशय खोजना चाहिए, इसके लिए ईश्वर की उपासना व्यर्थ है, क्योंकि वह हमारी अकर्मण्यता को सिद्ध करती है। मण्डन मिश्र ने 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थ में बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है कि हमें यदि किसी गाँव का शासक बनना है तो हमें राजा के पास जाकर उनसे प्रार्थना कर हम यह माँग सकते हैं, उसके लिए ग्रामेष्टि-यज्ञ क्यों किया जाये। अतः ग्रामेष्टि यज्ञ का फल ग्रामप्राप्ति नहीं है, बल्कि उससे भी विशिष्ट फल हमें मिलता है, जो हमारे लिए अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

स्तोत्र-साहित्य में फलश्रुति एक अभिन्न अंग के रूप में हम पाते हैं। हर पौराणिक स्तोत्र के अन्त में इसके पाठ, जप आदि का फल कहा गया है— इष्टदेव की कृपा मिलेगी, समृद्धि होगी, शत्रु का नाश होगा, मित्रों का उदय होगा, धन मिलेगा, सन्तान की प्राप्ति होगी, शत्रुओं से रक्षा होगी, गम्भीर परिस्थिति में भी रक्षा हो जायेगी आदि आदि। यहाँ तक कि वाल्मीकि-रामायण के बालकाण्ड के प्रथम सर्ग मूलरामायण के अन्त में कहा गया है– **पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्...** आदि। ब्राह्मण पढ़े तो उसकी वाणी समृद्ध हो, क्षत्रिय राजा बनें, वैश्य व्यापार का फल प्राप्त करे और शूद्र भी महान् बन जाये।

यहाँ सकाम कर्म और निष्काम कर्म की व्याख्या नहीं है फिर भी सांसारिक सुख फलश्रुति के रूप में व्यक्त है। इसके आलोक में हम देखें तो फलश्रुति के विषय में सकाम और निष्काम कर्म की व्याख्या हमें अद्वैत-वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में मिलती है और सभी व्याख्याएँ उस अवधारणा के चारों ओर घूमती है जहाँ कर्म एवं ज्ञान की अलग-अलग फलश्रुतियाँ कही गयी हैं। कर्म का फल सांसारिक सुख है तथा ज्ञान का फल मोक्ष है। इस आलोक में कर्म यानी यज्ञ, उपासना, स्तोत्रपाठ, जप आदि को हीन मानकर ज्ञान की महत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। गीता के श्लोक "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" की

व्याख्या को भी इसी अर्थ में प्रमाण माना गया है। वस्तुतः ज्ञान के आलोक में कर्म को हीन मानने की व्याख्या के कारण सनातन धर्म में ईश्वरोपासना तथा स्तोत्र साहित्य में कथित फलश्रुति पर विशेष रूप से उँगली उठायी गयी है।

फलश्रुति के सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति जानने के लिए हमें यह विवेचन करना होगा कि कर्मफल भी ज्ञान फल का अनुगामी है और अन्ततः हमें मोक्ष की ही प्राप्ति होती है। मार्ग में जो कर्मफल कहे गये हैं वे एक प्रकार से गति के त्वरक हैं। इस प्रसंग में कर्म तथा ज्ञान के बीच समन्वय को हमें स्पष्ट करना होगा।

हम जानते हैं कि सभ्यता के विकास के प्रत्येक चरण में अग्नि के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध रहा है। जब ग्रामों और नगरों की संस्कृति स्थापित हुई तो अग्नि के संरक्षण की आवश्यकता हुई। घर के पूर्व दक्षिण कोण में, जहाँ दिनभर सर्यू की किरण पड़ने के कारण नमी सबसे कम रहती थी, वहाँ अग्नि को संरक्षित किया गया और हमारे पूर्वजों ने उसकी रक्षा करने में अपनी पूरी ऊर्जा झोंक दी। ये अग्निदेव हुए, जो परिवार के आधार बने, परिवार की ईकाई के आधार बने, सभ्यता के विकास के आधार बने घर का पूर्व दक्षिण कोण अग्निकोण इसलिए कहलाया, क्यों कि घर के इसी कोण अग्निदेव की स्थापना होती रही, साथ ही यह घर का सबसे पवित्र स्थल कहलाया क्योंकि उसी कोने में हमारे पूर्वज देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देते रहे। घर में अग्निकोण को देवता-स्थल मानने की परम्परा आज भी मिथिला में विद्यमान है जबकि अन्य क्षत्रों के वास्तुशास्त्र की परम्परा पूर्व-उत्तर कोण को देवस्थल कहती है। मिथिला में आज भी अग्निकोण का महत्त्व उसी आदिकालीन वैदिक परम्परा का प्रतीक है मानव सभ्यता में परिवार की स्थापना होने के साथ ही पूरी दिनचर्या उसी स्थापित अग्नि के चारों ओर घूमती रही। अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए समिधा चाहिए, ज्वलनशील तरल पदार्थ घृत चाहिए, इसी अग्नि पर भाजे न पकाकर हमारे पूर्व खाते थे। चरुपाक एवं चरुप्राशन, अन्न, पेय आदि का संस्कार कर उसे खाद्य बनाने के लिए जितने साधन थे चमस, ओखल, मूसल, सूर्प, दर्वी आदि सभी गृह्यसूत्रों में परिवार के उपकरण नहीं यज्ञ के उपकरण के रूप में उक्त हैं। परिवार=यज्ञ, यह समीकरण मानव के विकास का वह चरण है, जब हमारे पूर्व खानाबदोश की संस्कृति को छोड़कर एक स्थान पर बसने लगे थे, बाद में कृषि-संकृति विकसित हुई थी और इसी विकास के दौर में अग्नि हमारे देव बने। 'देव' शब्द का अर्थ है— दीप्त, द्योतित।

इस प्रकार यज्ञ विकसित मनुष्य की आदिम पारिवारिक दिनचर्या है, वही कर्म है, पुरुषार्थप्राप्ति का साधन है। इसी अग्नि के निकट हमारे पूर्वजों ने वेदों की रचना की, भाषा का विकास किया पश्चात् सभ्यता उत्तरोत्तर विकसित हुई।

इसी यज्ञ से सम्बद्ध मन्त्रों और विधियों से सम्बद्ध मन्त्रों और वाक्यों का सम्पादन यजुर्वेद के रूप में हुआ, जिसकी माध्यन्दिन शाखा की परम्परा मिथिला में याज्ञवल्क्य से चली। इसमें 40 अध्याय हैं जिनमें 39 यज्ञ-कर्म से सम्बद्ध हैं और अन्तिम अध्याय ज्ञान से सम्बद्ध।

ईशावास्योपनिषद् के नाम से केवल 17 मन्त्रों का जो अध्याय हैं वही वेद का अन्तिम भाग 'वेदान्त' है, ज्ञानकाण्ड है। याज्ञवल्क्य ने मिथिला में ही शतपथब्राह्मण की रचना की। इसमें 14 काण्ड हैं, अन्तिम काण्ड 'बृहदारण्यकोपनिषद' है। वह 'अरण्य' में की गयी विचार-गोष्ठी का प्रतिपादन है, ज्ञानकाण्ड है।

जो गृहस्थ थे, उनके ऊपर विशेष दायित्व था। छोटे बच्चों का भरण-पोषण, सामाजिक सम्बन्धों की रक्षा, वंश की रक्षा आदि का भार उनके ऊपर ही था। फलतः उनकी अनेक कामना थी। फलतः वे पुत्रकाम, पशुकाम आदि यज्ञों की ओर प्रवृत्त हुए, कर्म बना।

गृहस्थ=यज्ञ=अग्नि=कामना यह समीकरण बना। उस समय गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ में बहुत अधिक अन्तर नहीं था।

सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ जटिलता भी बढ़ती गयी। गृहस्थों के बीच आवश्यकताएँ बढ़ीं फलतः दिनचर्या व्यस्त रहने लगी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय निकालने

में असमर्थ सिद्ध होने लगा। फलतः एक व्यक्ति=एक मुख्य कार्य, शेष गौणकार्य की अवधारणा पनपी। गृहस्थ ब्राह्मणों ने यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन को अपनाया। गृहस्थ थे अतः दान करते थे और खेती करना छोड़ चुके थे स्वामित्व नहीं था। अतः अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दान लेते भी थे। इस प्रकार वे षट्कर्मी बने। मानव मात्र में देवताओं के प्रति श्रद्धा थी, आस्था थी और देव-कृपा से सुखप्राप्ति की अभिलाषा थी, फलतः ब्राह्मण श्रद्धास्पद बने, क्योंकि वे यज्ञ करते थे। फलतः गृहस्थ ब्राह्मण=यज्ञ का समीकरण बना।

इस यज्ञ में पशुओं के प्रत्येक अंग से आहुति देने का विधान था, किन्तु याज्ञवल्क्य ने इसके विकल्प में अन्नमय पशु का विधान किया। तथापि सद्यः मांस से आहुति की परम्परा विद्यमान रही। फलतः गृहस्थ ब्राह्मण= यज्ञपशुहिंसा यह समीकरण बना। क्रमिक विकास के साथ साथ वैष्णवों, जैनियों और बौद्धों ने हिंसा का विरोध किया, याज्ञिक गृहस्थ ब्राह्मण उनके निशाने पर पड़े। इसी काल में अग्नि तथा गार्हस्थ्य जीवन का भी तिरस्कार हुआ।

इसी वैदिक एवं वैदिकेतर परम्परा की पृष्ठभूमि में आचार्य मण्डन ने सर्वत्र मिथिला की कर्मवाद परम्परा की पुष्टि की है। ब्रह्मसिद्धि के ब्रह्मकाण्ड में कर्म और ज्ञान के सम्बन्ध की पूर्ण व्याख्या की गयी है।

ब्रह्मसिद्धि में प्रश्न उठाया गया है कि यजुर्वेद के जो दो भाग हैं— उनचालीस अध्यायों का कर्मकाण्ड और एक अध्याय ज्ञानकाण्ड, ये दोनों एक कार्य की सिद्धि करते हैं या पृथक् कार्य की सिद्धि करते हैं। इस प्रश्न पर उन्होंने दो तर्क उपस्थापित किये हैं कि कर्म का फल स्वर्ग है और ज्ञान का फल ब्रह्मप्राप्ति है अतः कर्म और ज्ञान अलग-अलग कार्य के साधक हैं। दूसरा पक्ष है कि कर्म और ज्ञान दोनों ब्रह्मप्राप्ति के ही साधन हैं।

इसी स्थल पर कर्म और ज्ञान के बीच सम्बन्ध पर विचार किया गया है। इस प्रसंग में मण्डन मिश्र ने सात पक्षों को उपस्थापित किया है—

कुछ दार्शनिकों का पक्ष है कि यज्ञ, पूजा-पाठ आदि कर्म करने से सांसारिक विषय भोग के प्रति आसक्ति से छुटकारा मिल जाता है और यजमान शान्त चित हो जाता है, उसकी शारीरिक क्रियाएँ नियमित हो जाती हैं, जिससे वह शान्त, दान्त और समाहित चित्त होकर आत्मज्ञान का अधिकारी हो जाता है अतः यज्ञादि कर्म करने से स्वर्गादि प्रतिपादित फल की प्राप्ति हो या न हो, वह आत्मज्ञान का अधिकारी हो जाता है। इस पक्ष में कर्म और ज्ञान को एकाधिकार अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति रूप एक कार्य का साधक माना गया है। ब्रह्मसिद्धि के भाष्य भावशुद्धि में यह ब्रह्मदत्त के मत के रूप में उपस्थापित है।

इस पक्ष का खण्डन करते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि स्वर्गादि प्राप्ति के लिए किये गये कर्म से कर्ता को अन्य फल की अपेक्षा नहीं रहती है वह तो एकचित होकर स्वर्ग की कामना करता है इसी प्रकार आत्मज्ञान के जो साधन हैं उसमें यज्ञ-विधि की अपेक्षा नहीं होती है, वह ब्रह्मचर्य आदि से सिद्ध हो जाता है।

अतः कर्म को ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में एक साधन नहीं माना जा सकता है—

न हि कर्मादिविधयः समधिगत-स्वर्गादिकार्या स्ववाक्य-कार्यान्तरमपेक्षन्ते अर्थादिनाप्यात्मज्ञान-विधिर्यथोदितसाधन-निराकाङ्क्षः कर्मविधीनपेक्षते। तत्र कुत एकाधिकारत्वम्।

यहाँ एक शंका की जा सकती है कि कर्मविधि का वाक्य है— स्वर्गकामो यजेत। अर्थात् स्वर्ग की कामना जो करते हैं, वे यज्ञ करें यहाँ स्वर्गप्राप्ति याजन रूप कर्म के फल के रूप में नहीं कहा गया है। स्वर्ग तो पुरुष का एक

विशेषण मात्र है किन्तु आत्मज्ञान के वाक्य में फल के रूप में कैवल्य स्पष्ट है अतः कर्मविधि और ज्ञान विधि दोनों का फल कैवल्य ही है और कर्मविधि ज्ञानविधि का साधन है।

इस शंका का निवारण करते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि स्वर्गकामो यजेत का अर्थ नहीं समझने के कारण ऐसी आशंका उठ सकती है कि इस वाक्य में स्वर्ग का कथन फल के रूप में उक्त नहीं है। ऐसे अज्ञानी को पहले जैमिनीय सूत्र के स्वर्गकामाधिकरण की व्याख्या पढ़नी चाहिए— 'स्वर्गकामाधिकरणमस्मै व्याचक्षीत।

दूसरी शंका होती है कि नाम-रूपात्मक प्रपञ्च तो नश्वर है जबकि ब्रह्म शाश्वत है। इस प्रकार अग्निहोत्रादि का फल स्वर्ग और प्राणिवातादि का फल नरक इन दोनों के नश्वर होने के कारण हमें मान लेना चाहिए कि विधिशास्त्र और निषेध शास्त्र का परिणाम मोक्ष है और स्वर्ग एवं नरक आकस्मिक हैं अर्थात् अकारण हैं। मण्डन मिश्र ने इस आक्षेप का निराकरण किया है कि यह मान लें कि सब कुछ नश्वर है तब मोक्ष भी आकस्मिक ही हो जाएगा और सभी विधि-निषेध-शास्त्र व्यर्थ हो जाएँगे।

कर्म को ज्ञान का सहकारी मानने वाले दार्शनिकों का एक पक्ष यह है कि जैसा उपदेष्टा गन्तव्य ज्ञान का पता बतलाते हुए अनेक गाँवों को क्रमशः गन्तव्य बतलाता है, उसी प्रकार मुख्य लक्ष्य तो ब्रह्म-प्राप्ति है किन्तु इसके मार्ग में आपतित स्वर्ग आदि को भी अभीष्ट फल वेदवाक्य में कह दिया गया है। इस पक्ष का निराकरण करते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि उपर्युक्त दृष्टान्त में गन्तव्य मार्ग में आपतित स्थान तक पहुँचने पर भी यात्री की आकांक्षा बनी रहती है अतः उसे प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु यज्ञादि कर्म से स्वर्गादि प्राप्त होते ही कर्ता को पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है और वह निराकांक्ष हो जाता है अतः कर्मविधि का कार्य ब्रह्मज्ञान नहीं है।

उत्तरोत्तर-ग्राम-गमन के इस दृष्टान्त पर विशेष विमर्श करते हुए एक पूर्वपक्ष में कहा गया है कि यदि यह कहा जाये कि यात्रा के क्रम में एक ग्राम मिलेगा जहाँ दूध मिलेगा, अगले ग्राम में फल मिलेगा फिर आगे मिठाई मिलेगी। ऐसी स्थिति में तो प्रत्येक ग्राम में फल की प्राप्ति होती हीं जाएगी। इसी प्रकार ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में स्वर्गादि फल का भी कचन किया गया है।

यह पक्ष भी मण्डन मिश्र को स्वीकार्य नहीं है। वे कहते हैं कि प्रत्येक गाँव में जाकर फल प्राप्त कर भी यात्री की आकांक्षा की निवृत्ति नहीं होती है इसलिए वह अगले ग्राम के लिए चल देता है, किन्तु यहाँ स्वर्ग मिलते ही यजमान सन्तुष्ट हो जाता है वह निराकांक्ष हो जाता है। साथ ही, फलप्राप्तिपूर्वक उत्तरोत्तर ग्रामाभिगमन वाले दृष्टान्त में यात्री जब अन्तिम ग्राम पहुँच जाता है और वहाँ विशिष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है, तब वह प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जानता है कि इस फल की प्राप्ति के लिए हमें बहला-फुसला कर अमुक मार्ग से भेजा गया था। अतः इस दृष्टान्त में यह बोध प्रत्यक्ष प्रमाण का फल शाब्द प्रमाण का नहीं। यहाँ तो वेदवाक्यों के शाब्दप्रामाण्य का प्रसंग है। यहाँ तीसरा दोष यह है कि मार्ग के ग्रामों में जब फलों की प्राप्ति होती जाती है तो साथ चलने वाले उदासीन यह समझते जाते हैं कि इसी फल के लिए हमें इस गाँव में जाने के लिए कहा गया था और अन्तिम गन्तव्य स्थान पर पहुँचने पर जिस फल की प्राप्ति होती है उसी फल के लिए उस स्थान को मान लेता है। उसे कभी इस बात का बोध नहीं होता है कि गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के निमित्त हमें विभिन्न ग्रामों से होकर गुजरने का उपदेश किया गया था।

यद्यपि यह ठीक है कि पूर्व में प्रदर्शित गाँवों में जाना आगे के ग्रामों में गमन करने के लिए उपकारक है, किन्तु वहाँ प्रत्यक्ष फल की प्राप्ति होने पर उपकार्योपकारकता का बोध होता है। यह बोध प्रत्यक्ष के कारण होता है शब्द के

कारण नहीं और उपकार्योपकारकता का बोध होने पर भी हम कर्म को अवच्छेदकावच्छेदेन (सभी रूपों में) ज्ञान का उपकारक नहीं मान सकते हैं। जैसे यजन, अध्यापन आदि के द्वारा अर्जित धन यज्ञ का उपकारक होता है। उस धन के बिना यज्ञ सम्भव नहीं है तथापि उस धन का आंशिक उपयोग ही यज्ञ के लिए होता है अतः हम यजनादि का फल यज्ञ को नहीं मान सकते हैं। उसी प्रकार कर्मविधि को यदि ज्ञानविधि के लिए आंशिक रूप से उपकारक माना जाए तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु समग्रतया कर्म को ज्ञान का उपकारक नहीं माना जा सकता है।

उत्तरोत्तर ग्राम होते हुए नगर गमन के इस दृष्टान्त में यदि मान लें कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भी यदि बोध होता है कि प्रत्येक गाँव में जाने का उपदेश नगर-गमन के उद्देश्य से किया गया है, तब भी कर्मविधि को ज्ञानविधि का प्रयोजक माना जा सकता है। यहाँ मण्डन मिश्र ने कहा है कि ऐसा सम्भव है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हम ऐसा मान लें, किन्तु कर्म करने से तो फल की प्रत्यक्ष प्राप्ति नहीं होती है, उस फल की प्रतिपत्ति केवल शाब्द प्रामाण्य से होती है, अतः वैदिक कर्म विधि एवं ज्ञान विधि के प्रसंग में प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा ही व्यर्थ है अतः यह कहना कि प्रत्यक्ष प्रमाण से कर्मविधि ज्ञान विधि का उपकारक है, यह उचित नहीं।

इस पक्ष के खण्डन में एक और तर्क है कि यात्री यदि यह मानकर चले कि हमें नगर पहुँचाने के उद्देश्य से इन ग्रामों से होकर गुजरने का उपदेश किया गया है, तब वह उन उन ग्रामों में मिलनेवाले फलों के प्रति उदासीन हो जाएगा और या तो कहने पर भी उन उन ग्रामों से होकर यात्रा नहीं करेगा या गुरु आदि के आदेश के प्रभाव से चला भी जाए तो उन्हें मधुर आदि फलों की प्राप्ति नहीं होगी। वे मधुरादि फल अर्थवाद मात्र हो जायेंगे और अर्थवाद की प्राप्ति नहीं होती है तब वेद के विधि और निषेध वाक्यों का फल केवल मोक्ष माना जाए तो अभ्युदय और पतन अकारण हो जायेंगे। अतः विधि-निषेध स्वरूप कर्मकाण्ड का फल स्वर्ग-नरक आदि हैं मोक्ष नहीं।

यहाँ मण्डन मिश्र अभ्युदय आदि की आकस्मिकता पर विचार करते हुए पुनः कहते हैं कि यज्ञ में प्रयाज और अनुयाज याग प्रधान यज्ञ के अंग हैं और उपकारक हैं फिर भी दोनों के पृथक पृथक फल कहे गये हैं। इसी प्रकार यदि हम यह भी मान लें कि कर्मविधि भी ब्रह्म-प्राप्ति के उपकारक अंग रूप हैं तो अभ्युदयादि अकारण नहीं रहेंगे। किन्तु यह पक्ष भी उचित नहीं। प्रयाजादि के जो फल हैं, वे स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ नहीं हैं। अतः वे प्रधान याग के अंगस्वरूप होकर प्रधान याग की ओर प्रेरित करते हैं, किन्तु कर्म के फल पुरुषार्थ हैं अतः वे क्यों दूसरे पुरुषार्थ की ओर प्ररित करेंगे? अतः कर्म विधि और ज्ञान विधि में एकाधिकार नहीं है।

यदि यह भी कहा जाए कि यज्ञादि कर्म से सांसारिक प्रवृत्ति का निवारण हो जाता है तब यजमान शान्त, दान्त और समाहित चित्त होकर आत्मज्ञान का अधिकारी हो जाता है, तो यह भी संगत नहीं **"मा हिंस्यात् सर्वभूतानि** इस निषेध वाक्य से भले हिंसा की प्रवृत्ति समाप्त हो जाए किन्तु **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम** इत्यादि विधिवाक्य से प्रवृत्ति ही होगी। फलतः वह शान्त, दान्त और समाहित चित नहीं हो सकेगा।

यदि कर्मविधि से सांसारिक प्रवृत्ति निरोध के समर्थन में कहा जाये कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी सुख के लिए होती है और वैदिक कर्मों की प्रवृत्ति भी सुख के लिए होती है। अतः दोनों का अनुष्ठान एक साथ होने पर दोनों में विरोध उत्पन्न होगा और वैदिक कर्मविधि से अनुष्ठान करने पर स्वाभाविक रागादिजन्य कर्मों की निवृत्ति हो जाएगी। यह मत मण्डन को अभीष्ट नहीं। वे कहते हैं कि दोनों कर्मों के फल एककालिक नहीं है, अतः वे दृष्टार्थ हैं किन्तु वैदिक कर्मविधि का फल अनियत कालिक एवं अदृष्ट हैं। इस प्रकार दोनों के बीच कोई विरोध नहीं होगा और वैदिक कर्मों से रागादिजन्य कर्मों की निवृत्ति नहीं होगी। इसका दृष्टान्त देते हुए मण्डन मिश्र कहते हैं कि 'सांग्राहिण्या

यजेत ग्रामकामः" इस श्रुति से ग्राम प्राप्ति के लिए सांग्रहिणी याग का विधान है। साथ ही, लोक में राजा की सेवा से भी ग्राम प्राप्ति हो जाती है किन्तु वैदिक सांग्रहिणी याग के साथ राजा की सेवा का कोई विरोध नहीं होता है।

दोनों कर्मों के बीच विरोध का खण्डन हुए आगे कहा गया है कि यदि वैदिक कर्म के कारण लौकिक कर्म का त्याग कर दिया जाए तो धन के अभाव में वैदिक कर्म कर पाना सम्भव नहीं होगा और भी, वैदिक कर्म और लौकिक कर्म दोनों सुख भोग के लिए हैं अतः इनमें कोई अन्तर नहीं है "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" इस वैदिक कर्म विधि के द्वारा किया गया यज्ञ भी सुख निमित्त ही होता है, अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं। फलतः वैदिक कर्म करने से लौकिक कर्म की निवृत्ति होने के कारण वैदिक कर्म को ज्ञानप्राप्ति का साधन नहीं माना जा सकता है।

यदि हम यह कहें कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ सुखप्राप्ति के निमित्त नहीं होते, क्योंकि 'स्वर्गकामः' इस पद में स्वर्ग शब्द का व्यवहार अप्रधान रूप में किया गया है और अप्रधान का अन्वय फल के साथ नहीं होता है अतः ज्योतिष्टोमादि याग सकाम कर्म नहीं है धनार्जन आदि लौकिक प्रवृत्तियाँ सकाम हैं। इसलिए दोनों में विरोध है!

यहाँ खण्डन करते हैं कि यदि ज्योतिष्टोम आदि का फल स्वर्ग नहीं माना जाए तो स्वर्ग और नरक अकारण हो जायेंगे और तब जैमिनि सूत्र व्यर्थ हो जायेगा।

अतः वैदिक कर्म से लौकिक कर्म का निरोध नहीं होने के कारण वैदिक कर्म ज्ञान का साधन नहीं है। इस प्रकार मण्डन मिश्र ने कर्म और ज्ञान के बीच साध्य-साधन भाव सम्बन्ध का खण्डन कर कर्म की पृथक सत्ता का समर्थन किया है।

द्वितीय मत

कर्म और ज्ञान के बीच सम्बन्ध को लेकर दूसरा मत है कि जिसे सांसारिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई है उसका मन सदैव उसी ओर लगा रहता है जिससे वह हमेशा व्याकुल रहता है, ऐसा व्यक्ति उस परम अद्वैत का दर्शन नहीं कर पाता है। अतः ज्ञान की प्राप्ति के लिए सुख भोग आवश्यक है सुख भोग वैदिक कर्म से होता है अतः कर्म और ज्ञान के बीच साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। इस पूर्व पक्ष को स्पष्ट करते हुए मण्डन मिश्र ने 'कठोपनिषद् को उद्धृत किया है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य इदि स्थिता।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ. 21314)

अर्थात् जब हृदय में स्थित सभी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं तब वह अमर होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

इस पक्ष का खण्डन करते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि कामना की प्राप्ति से कामनाओं का नाश नहीं होता अपि तु कामना में अनित्यत्वादि दोष दिखाई पड़ने से उत्पन्न विवेक कामनाओं का नाश करने में समर्थ होता है। कामना के स्पर्श मात्रा से लोगों का मन आत्मज्ञान से मटक जाता है। यहाँ अपने पक्ष के समर्थन में मनुस्मृति को उद्धृत किया है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शम्यति।" अर्थात् कामनाओं के उपभोग से कामना शान्त नहीं होती हैं।

योगसूत्र-भाष्य में भी कहा गया है— **"भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्।"**

अर्थात कामनाओं के सतत उपभोग से इन्द्रियों के प्रति आसक्ति बढ़ती है। अतः कामनाओं की पूर्ति से

आत्मज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार कर्म से ज्ञानाधिकार नहीं होता। यहाँ तक कि कर्मविधि का अभाव होने से लोग यज्ञ आदि सकाम कर्म नहीं कर सभी क्लेशों को नाश करनेवाले आत्मज्ञान की ओर ही प्रवृत्ति होंगे अतः कर्म और ज्ञान में व्यतिरेक है अन्दय नहीं।

दूसरी ओर आत्मज्ञान भी कामनाओं का नाश नहीं कर पाता। श्रुति कहती है कि ब्रह्म परम आनन्द स्वरूप है किन्तु उसका अनुभव तो किसी ने नहीं किया है। वह अननुभूत आनन्द सांसारिक सुख के अनुभूत आनन्द को थोड़ी भी हानि नहीं पहुँचा पाता तो समूल नष्ट करने की बात कैसे? इसलिए एकमात्र विवेक है जो कामनाओं का नाश करने में समर्थ है। कर्म विधि तो इसके विपरीत कार्य ही करती है।

मृत्यु के बाद शरीर नरम हो जाता है और आत्मा शेष रह जाती है इस प्रकार आत्मा में ही शरीर का विलय हो जाता है— यह श्रुति कहती है। ऐसा मानकर यदि हम कहें कि स्वर्गकामो यजेत इस कर्म विधि में स्वर्गफल प्राप्त करनेवाली आत्मा है और इस आत्मा में शरीर का विलय हो जाता है, अतः कर्म विधि ज्ञान कार साधन है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत इस कर्मविधि में शरीर का बोध होता है न कि शरीर से भिन्न आत्मा का बोध होता है।

अब यहाँ यदि कहा जाए कि ठीक है कि स्वर्गकामो यजेत वाक्य से आत्मा का नहीं शरीर का ही बोध होता है तथापि काम आदि की प्रबलता का तो बोध होता ही है, क्योंकि कामादि की प्रबलता के कारण ही अग्निहोत्र आदि यागों के प्रति रुचि जगती है। इस प्रकार यागों के प्रयोजन से ही जानते है कि कर्मविधि से भी आत्मा का ज्ञान होता है। इस पक्ष के खण्डन में मण्डन मिश्र ने कहा है कि यह कथन उपहासास्पद है जब वेद स्पष्ट रूप से साक्षाद्धि इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषद् 3.1.8.18 के द्वारा शरीर और इन्द्रियों का आत्मा में विलीन होने की बात प्रत्यक्ष्य रूप से कही गयी है तब 'स्वर्गकामो यजेत इस कर्मविधि वाक्य के द्वारा अनुमान से आत्मा में देहादि के विलय होने की बात क्यों करें?

जब सामने हाथी दिखाई पड़ रहा हो तब उसके पैर का चिहन देखकर अनुमान करने की क्या आवश्यकता है यज्ञ के प्रयोजन से तो काम आदि ग्रन्थियों की प्रबलता श्रुति भी मानती ही है। अतः कर्मविधि शरीरपरक है, इससे आत्मा का बोध नहीं होता है। अतः कर्मविधि ज्ञान का साधन नहीं है।

इस प्रकार कर्म और ज्ञान के सम्बन्ध में जो दूसरा मत कहा गया है कि कामनाओं की पूर्ति हो जाने पर उससे निवृत्ति हो जाती है और वह ज्ञानाधिकारी हो जाता है, यह सही नहीं है क्योंकि एक तो कामना की पूर्ति से कामना नष्ट नहीं होती है बल्कि अधिक हो जाती है और दूसरी बात है कि यज्ञ का फल मिल जाने के बाद उसकी आकांक्षा समाप्त भी हो जाए तो वह ज्ञान के लिए यत्न करेगा, इसका कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही यदि हम मोक्ष के अधिकारी को भी कर्म का अधिकारी मान लेंगे तो सभी कर्म ज्ञान के साथ सम्बद्ध हो जायेंगे जो कि असम्भव है। अतः कर्मविधि और ज्ञानविधि के अधिकारी एक नहीं हो सकते।

अभी तक पूर्व पक्ष के रूप में यह चर्चा हुई है कि जो ज्ञान के अधिकारी हैं वे कर्म के अधिकारी हो जाते हैं। मण्डन मिश्र ने इस मत का खण्डन किया है। अब वे इसके विपरीत क्रम से एकाधिकार विषयक पूर्वपक्ष का विवेचन करते हुए कुछ दार्शनिकों का मत उपस्थापित करते हैं कि जो कर्म के अधिकारी हैं वे ज्ञान के अधिकारी भी हो जाते हैं यह भी मण्डन मिश्र का अभीष्ट नहीं है।

इसी ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ में मण्डन मिश्र ने अन्ततः सिद्ध किया है कि कर्म का जो फल होता है वह ज्ञान के फल की प्राप्ति में सहायक होता है। कर्मों का भी लक्ष्य मोक्षप्राप्ति ही है। अतः यज्ञ, उपासना स्तोत्र आदि की जो फलश्रुतियाँ

शास्त्रोक्त हैं वे केवल आकृष्ट करने के लिए होते हैं, सब के अन्तिम फल मोक्ष हैं अतः हमें स्तोत्रादि के साथ उल्लिखित फल के शब्दार्थ पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता है। वे शब्दार्थ प्रत्यक्षतः घटित नहीं होते हैं, किन्तु वे अन्य विशिष्ट फल प्रदान करते हैं जो निष्काम हैं, जिनसे हमें मोक्ष की प्राप्ति होती है।

***

लेखकों से निवेदन

'धर्मायण' का अग्रिम अंक **शापकथा-विशेषांक** के रूप में प्रस्तावित है। सनातन साहित्य के लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में देवता, मुनि, ब्राह्मण, गुरु आदि के द्वारा शाप देने का उल्लेख हुआ है। प्रथमतः तो यह शाप एक असहज घटना प्रतीत होती है, लेकिन इनका विश्लेषण इस प्रकार किया गया है कि अन्ततः यह लोककल्याणकारी सिद्ध होता है। रामचरितमानस में ही जितने शापप्रसंग हैं, वे सामान्य जन के उपकारक सिद्ध हुए हैं। "*मुनि श्राप जो दीन्हा* अति भल *कीन्हा* परम अनुग्रह मैं माना।" की स्थिति सर्वत्र दिखाई देती है। इसमें हम प्रसिद्ध-ग्रन्थों में से किसी एक ग्रन्थ को लेकर उनमें शाप के जो प्रसंग आये हैं, उनका विश्लेषण कर यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि शाप देने की परिस्थितियाँ क्या थीं, किसने किसे शाप दिया तथा उसका परिणाम क्या हुआ। इस विवेचन से वर्तमान में उठाये जा रहे अनेक प्रश्नों का समाधान हो जायेगा। धर्मायण में इससे पूर्व इस विषय पर दो आलेख प्रकाशित हो चुके हैं– 1. डा. जनार्दन यादव, पौराणिक शाप कथाएँ : भारतीय मिथक, अंक 72 तथा डा. श्रीकांत सिंह, 'मानस' में वर्णित शाप तथा उनकी दिशाएँ, अंक 80. इन आलेखों की बहुत चर्चा हुई थी। अतः यह प्रस्ताव हैं कि वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत, आदि अतिप्रसिद्ध ग्रन्थों को आधार मानकर शापकथा के प्रसंगों पर आलेख लिखे जायें।

***

मीमांसा-दर्शन में अर्थवाद

विद्यावाचस्पति महेश प्रसाद पाठक

"गार्ग्यपुरम्" श्रीसाईं मन्दिर के पास, बरगण्डा, पो–जिला-गिरिडीह, (815301), झारखण्ड, Email: pathakmahesh098@gmail.com

वैदिक संहिता का व्याख्यात्मक भाग ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाते हैं। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध इनके ब्राह्मण हैं, जैसे ऋग्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण ऐतरेय है तथा शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में 10 विषय-वस्तुएँ हैं– मन्त्रों का प्रयोजन, शब्दार्थ, बुरे कार्य का निषेध, अच्छे कार्य की प्रशंसा, अग्रतर कार्य, पहले किए गये कृत्य, निर्धारण, कल्पना एवं उपमान। इन 10 विषयों के माध्यम से वेद के अर्थ को समझाया गया है। सायणाचार्य ने मन्त्र भाग तथा ब्राह्मण भाग दोनों के सम्मिलित रूप को वेद कहा है। इस प्रकार, वैदिक साहित्य में जो निन्दा एवं प्रशंसा हैं उन्हें सम्मिलित रूप से अर्थवाद कहा जाता है। यही अर्थवाद परवर्ती साहित्य में फलश्रुति है, जिससे यह पता चलता है कि हमें अमुक कार्य करना चाहिए अथवा नहीं। अतः फलश्पुति को जानने के लिए हमें वैदिक साहित्य के अर्थवाद को जानना पड़ेगा, जिसका विवेचन मुख्यतः मीमांसा शास्त्र में हुआ है। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मीमांसा वाक्यार्थ का सही बोध कराने वाला शास्त्र है।

प्राचीनकाल में वेदाध्ययन करते समय शिष्य अपने आचार्य से वैदिक ज्ञान के अतिरिक्त व्यवहारिक शिक्षा भी ग्रहण किया करते थे। इन समस्त क्रियाओं में निहित आदेशवचन विधि के नाम से जाने जाते थे तथा उनकी व्याख्या करना अर्थवाद कहलाता था। कालान्तर में अर्थवाद शब्द के व्यवहार प्रशंसा अथवा अतिरञ्जना के अर्थ में होने लगे।

अर्थवाद इस विषय में कहता है– किसी उद्देश्य की घोषणा करने वाला सन्देश, निश्चयात्मक घोषणा, घोषणा विषयक प्राक्कथन, व्याख्यापरक टिप्पणी, किसी आशय की उक्ति जिसमें यह निर्देश होता है कि अमुक अनुष्ठान करने से अमुक फल की प्राप्ति होती है, जिसके लिये किसी विधि विशेष की अनुशंसा की जाती है। इस अनुशंसा में अपना पक्ष रखते हुए कुछ उदाहरण भी दिये जाते हैं जो पौराणिक, ऐतिहासिक आख्यान में समर्थित रहते हैं। इसका पक्ष लेते हुए यह कहा जाता है कि अमुक अनुष्ठान करने पर उसका सकारात्मक फल मिलता है तथा इसमें तनिक भी लापरवाही करने पर अनिष्ट की भी आशंका रहती है। अर्थवाद पूर्वमीमांसा दर्शन की शब्दावली है, जिसके बारे में यह कहा गया है, जिससे प्रशंसा, स्तुति अथवा किसी कार्यात्मक उद्देश्य की सिद्धि के लिये ऐसी बातें कहना जो कार्य सम्पन्न करने में प्रेरक हों। अर्थवाद और फलश्रुति एक दूसरे से भिन्न नहीं। फिर भी फलश्रुति के अन्य अर्थ देखने को मिलते हैं– वह

"इसप्रकार के निर्देश जिसमें सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती हो और इससे मिलने वाले फल भी बतलाये जाते हैं। उदाहरण के लिये-अमुक यज्ञ करने से अमुक फल मिलता है या स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है। इसे एक अर्थ में अर्थवाद के रूप में भी जाना जाता है।"

वाक्य जिसमें किसी कर्म के फल का वर्णन हो और जिसे सुनकर जनमानस में उस कर्म करने की इच्छा जाग्रत हो जाय तथा तदनुरूप कर्म करने की प्रवृति भी उत्पन्न होने लगे। इसप्रकार के निर्देश जिसमें सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती हो और इससे मिलने वाले फल भी बतलाये जाते हैं। उदाहरण के लिये– अमुक यज्ञ करने से अमुक फल मिलता है या स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है। इसे एक अर्थ में अर्थवाद के रूप में भी जाना जाता है। किसी धार्मिक कृत्य का सम्पादन वेदों का अन्तर्निहित उद्देश्य होता है। उसीप्रकार वैसे धार्मिक कर्म जो किसी उद्देश्य की प्रतिपूर्ति नहीं करते, वे निरर्थक एवं अनित्य (किसी नित्य विषय की और संकेत नहीं करते) होते हैं। इसमें यही कहा जा सकता है कि ये वेदवचन या उद्बोधनयुक्त वचन (विधि-वाक्यों) के साथ एकरूपता के भाव से सम्बन्धित हैं और उद्बोधनकारी वचनों की महत्ता प्रकट करने का उपयोग सिद्ध करते हैं। मीमांसादर्शन (सूत्रकार जैमिनि) के भाष्यकार स्वामी शबर ने (1.2.7) का वचन उद्धृत करते हुए कहा है– 'जो समृद्धि का इच्छुक है, वायु के सम्मान में श्वेतपशु का त्याग करे; वायु से तेज चलने वाले देवता हैं; वह वायु के अनुरूप भाग के साथ उसके पास दौड़ते हैं। वह (वायु) यजमान को समृद्धि के पास ले जाता है।'

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादार्थक्यमतदर्थानामानर्थक्य-मुच्यते।

वेद कर्म का बोध होने से, उसके विपरीत जो कर्मार्थबोधक नहीं हैं, वे अर्थहीन हैं, अतः वे अनित्य कहे जाते हैं। मीमांसा-सूत्र में बहुत से ऐसे वचन हैं जो विधियों के जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु वे अर्थवाद के रूप में घोषित हैं। प्रथम वेद ऋग्वेद में यज्ञ से सम्बन्धित बातों के बाद लौकिक एवं पारलौकिक सफलताओं को भी बतलाया गया है। मन्त्र में द्वारा हम देवताओं से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य और देवताओं के बीच यज्ञ एक सम्पर्कसूत्र का कार्य करते है। सभी देवता शक्ति के एक केन्द्र स्वरुप कहे गये हैं। सभी लौकिक एवं पारलौकिक उपलब्धियों के लिये शक्ति की आवश्यकता होती है, अतः मनुष्य को शक्ति सम्पन्नता के लिये देवाराधन करना विहित माना गया है। यज्ञ में देवताओं को जो आहुतियाँ दी जाती है, उससे देवता प्रसन्न होकर मनुष्य को मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं। देवबल की सहायता से ही मनुष्य सभी क्षेत्रों में विजयी हो सकता है। गीता में भी भगवान् ने यज्ञ से मानव की उन्नति एवं इच्छित भोगों की प्राप्ति होने की बातें कही है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(–गीता : 3.10-11)

अर्थात् 'प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करो और यज्ञ तुमसबों को

इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो। तुमलोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुमसबों को उन्नत करें। इसप्रकार निःस्वार्थभाव से एकदूसरे को उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याण को प्राप्त कर जाओगे।' यज्ञ सकाम और निष्काम दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं लेकिन निष्काम यज्ञ का महत्व अधिक है। काम्यकर्म से हमें स्वर्गादि, वृष्टि आदि होने का आशीष प्राप्त होता है। 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि सकाम कर्म है, जिसके अनुष्ठान से स्वर्ग प्राप्ति एवं निष्काम यज्ञ से आत्मज्ञान का लाभ मिलता है, इसे मोक्ष का भी साधन कहा गया है। अतः मीमांसा-दर्शन के सन्देश स्वर्ग-साधन एवं मोक्ष-साधन दोनों की प्राप्ति कराने में सक्षम है, जिसमें यथाविहित विधान करने की भी आवश्यकता होती है।

"हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्॥"

"स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य॥"

(—मीमांसासूत्र : 1.2.26-27)

अथवा हेतु है, क्योंकि यह वाक्य अर्थ और उपपत्ति वाला हो सकता है, परन्तु स्तुति या महत्वार्थ साधनविधि के अनुकूल ही होगा और ऐसे वाक्यों में यज्ञ प्रेरणा नहीं होता। वेद में कुछ ऐसे वचन हैं जहाँ 'हि' के समान शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है क्योंकि। जैसे—अग्नि में आहुति सूप से देनी चाहिये क्योंकि इसी से अन्न तैयार किये जाते हैं। (तैत्तिरीय ब्राह्मण : 1.6.5) अब प्रश्न उठता है कि यह तथा वे वचन जिनमें हेतु या कारण दिया हुआ रहता है, अर्थवाद के रूप में ग्रहण किये जाँय या मात्र आज्ञा के लिये हेतु बताने वाले के लिये ग्रहण किये जाँय। व्यवस्थित निष्कर्ष यही है कि ये स्तुतिमूलक हैं। यदि दूसरा मत (श्रुति-विधि) स्वीकार किया जाय तो स्रुव तथा अन्य पात्र भी आहुति के लिये मान्य ठहराये जाँय, क्योंकि वे भी भोजन के लिये प्रयुक्त होते हैं।

'सिद्धान्त शिरोमणि' का कथन है—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥

अर्थवाद के तीन प्रकार कहे गये हैं— गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थवाद।

गुणवाद—

जिसमें मनुष्यों के साधारण ज्ञान के विरुद्ध वस्तुओं के गुणों के वर्णन मिले हैं। जैसे— 'यजमान प्रस्तर है' यहाँ प्रस्तर का अर्थ मुट्ठीभर कुश है। इसका यजमान के साथ अभेदान्वय नहीं हो सकता, अतः सन्दर्भ में यहाँ यजमान का कुशमुष्टि धारणरूप अर्थवाद का प्रकार गुणवाद माना जाता है।

अनुवाद—

जब कोई बात ज्ञान के किसी अन्य साधन से स्पष्टरूप से निश्चित होती है और किसी मूल ग्रन्थ या वचन का विषय हो जाती है। अर्थात् वे वाक्य जिनमें उन वाक्यों के वर्णन आते हैं जिनका ज्ञान लोगों को पहले से ही है। जैसे— 'अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिये' अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन हो ही नहीं सकता, अतः यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, तो भी यहाँ इसका पुनः अनुवाद कर दिया है। (हिन्दू धर्मकोष : पृ० 50)

भूतार्थवाद—

इसमें वे वाक्य आते हैं जो ऐसी बातें बतलाते हैं, जिनका ज्ञान वेदवाक्यों के अतिरिक्त और किसी प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता। अर्थात् जब कोई मूल अन्य प्रमाणों के विरोध में नहीं पड़ता या निश्चितरूप से निरुपित नहीं हो सकता।

कृष्णयज्वश (सन्दर्भ : धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द, 5, पृ. 144) की 'मीमांसा परिभाषा' में अर्थवाद के चार प्रकार कहे हैं—

1. निन्दार्थवाद– व्यवहार में किसी कार्यविशेष का निषेध या उसकी निन्दा करना। जैसे पर्व-त्यौहार के दिन अभक्ष्य सेवन करने वाला मल-मूत्र से भरे हुए नरक में जाता है।

2. स्तुति-अर्थवाद– जो भगवत-पूजन करता है, वह स्वर्ग को जाता है। यह उदहारण स्तुति-अर्थवाद का है।

3. परकृति-अर्थवाद– किसी अन्य महान् व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म परकृति-अर्थवाद कहलाता है।

4. पुराकल्प अर्थवाद– जो घटना अतीत में घटित हो चुकी हो, उसे पुराकल्प अर्थवाद कहा जाता है।

देवल का कहना है कि पहली बार की त्रुटि के लिये प्रायश्चित की व्यवस्था है लेकिन दूसरी बार दूने प्रायश्चित की। उसीप्रकार तीसरी बार के लिये तिगुने किन्तु चौथी बार के लिये की गयी त्रुटि की कोई व्यवस्था नहीं। देवल का एक प्रमुख श्लोक 'आचारमयूख' में उद्धृत है– पिता की मृत्यु के बाद पिता के धन को बाँट लेना चाहिये, क्योंकि पिता जबतक निर्दोष रूप से जबतक जीवित है, पुत्रों को स्वामित्व प्राप्त नहीं हो सकता। (आचारमयूख : पृष्ठ 90) इस श्लोक के पूर्वार्ध में विभाजन का काल बतलाया गया है (विधि), जबकि इसका उत्तरार्ध अर्थवाद है, जो विधि की प्रशंसा करता है।

स्मृतिग्रन्थों में विशेषकर मनुस्मृति में भी अर्थवाद के दृष्टान्त देखे जा सकते हैं। मनुस्मृति (5.28) में 'प्राणस्यान्नमिदं सर्वं...' तथा मनुस्मृति के (5.56) में 'न मांस भक्षणे दोषः...' पर मेघातिथि ने टीका करते हुए अर्थवाद को प्रकट किया है। मनुस्मृति के (2.117) में श्लोक में 'लौकिकं वैदिकं वापि ....' में अभिवादन की विधि का प्रकटीकरण है किन्तु 2.118-121 'अभिवादनशीलस्य..' तक के विषय में अर्थवाद है।

एक उदाहरण गरुड़पुराण, अध्याय 24 में भी प्रासंगिक है, जिसमें यह कहा गया है गान्धारी ने दशमी

"तन्त्रवार्तिक में एक उल्लेख अर्थवाद के सन्दर्भ में इसप्रकार मिलता है- ऐसे अर्थवाद वचन जो विधि-वचनों के बाद आते हैं, निर्बल ठहरते हैं। किन्तु जो विधियों के पूर्व आते हैं, वे बलवान होते हैं।"

विद्धा एकादशी का व्रत किया था, जिसके फलस्वरूप उसके सौ पुत्रों का विनाश उसके जीवनकाल में ही हो गया। इसलिये दशमीयुक्त एकादशी का व्रत करना निषेध है। यहाँ पर पूर्वार्ध मात्र निन्दानुवाद है। क्योंकि ऐसी मान्यता है कि वचन में निन्दा भर्त्सना मात्र के लिये नहीं, परन्तु जो भर्त्सना के योग्य है उसके विरोध की भी व्यवस्था है।

वेदों में कईएक स्थानों में अर्थवाद देखे जा सकते हैं, विशेषतः ब्राह्मणग्रन्थों में। तन्त्रवार्तिक में एक उल्लेख अर्थवाद के सन्दर्भ में इसप्रकार मिलता है– ऐसे अर्थवाद वचन जो विधि वचनों के बाद आते हैं, निर्बल ठहरते हैं। किन्तु जो विधियों के पूर्व आते हैं, वे बलवान होते हैं –

ये हि विध्युद्देशात्परस्तादर्थवादा श्रूयन्ते तेषामस्ति दौर्बल्यम्। ये पुरस्ताच्छ्यन्तेते मुख्यत्वादबलीयांसो भवन्ति।[8]

(– तन्त्रवार्तिक-3.3.2)

वैदिक वचनों में प्रतिषेध या विषेध की भी व्यवस्था है जिसमें मनुष्य को उन उद्देश्यों की भी पूर्ति होती है, जिनसे वह अवाञ्छित फल उत्पन्न करने वाले कर्मों से भी बचाता है। प्रायः इसप्रकार की विधियाँ जो हमें कुछ करने को प्रेरित करती है, उन्हें जानकार

"हमारे धर्मशास्त्र के रचयिता निःसन्देहरूप से मानवविज्ञानी या मनोविज्ञानी रहे होंगे। शास्त्रों की रचना भी इसी आधार पर हुई है -यह कहना अतिशयोक्ति नहीं। शास्त्रविहित कर्म, शास्त्रनिषिद्ध कर्म या शास्त्रविहित कर्मों का उल्लंघन (विकर्म) -ये तीनों ही वेदों के द्वारा जाने जा सकते हैं। मानवोत्थान हेतु समस्त लौकिक-पारलौकिक निर्देश देते हुए श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत होने की प्रेरणा हमारे सनातन शास्त्रों का उद्देश्य है।"

मनुष्य का मन उद्वेलित हो जाता है— मैं अमुक कार्य करूँगा। इसप्रकार प्रेरणास्पद गुण को प्रकट करने हेतु जो निर्देश प्राप्त होते हैं वे वाञ्छित फल प्राप्ति के स्रोत हैं। इसका साधारण सा उदाहरण है— झूठ नहीं बोलना चाहिये। यह निषेधात्मक गुण-प्रभाव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि झूठ बोलने से मनुष्य को दूर ही रहना चाहिये। अतः जब 'न' का प्रयोग किसी वाक्य में होता है तब वह प्रतिषेध होता है या अर्थवाद होता है।

हमारे धर्मशास्त्र के रचयिता निसंदेहरूप से मानवविज्ञानी या मनोविज्ञानी रहे होंगे। शास्त्रों की रचना भी इसी आधार पर हुई है —यह कहना अतिशयोक्ति नहीं। शास्त्रविहित कर्म, शास्त्रनिषिद्ध कर्म या शास्त्रविहित कर्मों का उल्लंघन (विकर्म) —ये तीनों ही वेदों के द्वारा जाने जा सकते हैं। मानवोत्थान हेतु समस्त लौकिक-पारलौकिक निर्देश देते हुए श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत होने की प्रेरणा हमारे सनातन शास्त्रों का उद्देश्य है। जैसे जो बालक ओषध नहीं खाना चाहता हो, उसे हम मिठाई का लालच देकर ओषध खाने को प्रेरित करते है, जिससे वह बालक स्वस्थ हो सके। ठीक इसीप्रकार वैसे लोगों को जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखा है, सकारात्मक एवं प्रेरणास्पद बातें उनके लिये बेकार-सी प्रतीत होती है, वेदोक्त बातों पर विश्वास नहीं करते, विहित कर्मों का आचरण न कर अकर्म (निषिद्ध) या विकर्म आचरण करने को प्रस्तुत हो जाते हैं, जो अन्ततः मृत्युचक्र से उबारने में सक्षम नहीं; ऐसे लोगों को मानवोचित एवं शास्त्रोक्त कर्म-व्यवहार करने हेतु जो विधि-निर्देश प्राप्त होते हैं, वे अज्ञान-निवृत्ति का कारण बनते हैं। इसलिये फल की अभिलाषा छोड़कर और विश्वात्मा भगवान् को समर्पित कर जो वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करता है, इसे कर्मों की निवृत्ति से प्राप्त होने वाली ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है। भागवतकार ने छठे योगीश्वर श्रीआविहोत्रजी से कहलवाया है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमिश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुति॥

(—श्रीमद्भागवत : 11.3.46)

'वेदों में जो स्वर्गादि जैसे फलों के वर्णन हैं, उनका तात्पर्य फलों की सत्यता में नहीं, बल्कि कर्मों में रुचि उत्पन्न करना है।' श्रीमद्भागवत के कहे गये शब्द मिथ्या नहीं। बहुत से ऐसे कथ्य होते हैं, जिनके शाब्दिक अर्थ न लेकर उनमें अन्तर्निहित तथ्यों को ही लेना चाहिये। इसलिये कहा भी गया है शास्त्रों का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिये, हो सके तो किसी पण्डित अथवा विद्वान् से ही सुनना श्रेयस्कर है, क्योंकि शब्दार्थ और भावार्थ की समीक्षा ये ही करने में सक्षम होते हैं।

किसी को यज्ञादि करने से स्वर्ग भी मिल जाये तो उससे हमारे आवागमन से मुक्ति नहीं मिलने वाली। क्योंकि वे जीव के आवागमन के चक्र को रोक नहीं सकते। पूजा-पाठ, अर्चन-वन्दन आदि ऐसे माध्यम हैं, जिनकी निरन्तरता से हम भगवत-सानिध्य पाकर भगवत्प्रेम की अनिर्वचनीयता से

शेष पृ. 38 पर

लौंगाक्षि-भास्कर द्वारा प्रतिपादित अर्थवाद

डा. दयाशंकर शास्त्री कृत अर्थसंग्रह की अर्थबोधिनी व्याख्या का संगत अंश

मीमांसा-दर्शन में लौंगाक्षि भास्कर कृत 'अर्थ-संग्रह' नामक ग्रन्थ शास्त्र में प्रवेश के लिए सबसे प्रामाणिक माना गया है। इसमें मीमांसा के सभी विषयों को प्रारम्भिक स्तर पर व्याख्यायित किया गया है ताकि इसके अध्ययन के पश्चात् पाठक को मीमांसा-दर्शन को समझने में कोई असुविधा नहीं होगी। इस ग्रन्थ पर संस्कृत में तो अनेक व्याख्याएँ हैं, किन्तु हिन्दी में डा. दयाशंकर शास्त्री की व्याख्या छात्रों के लिए सबसे सुन्दर है। इसमें अर्थसंग्रह की मूल पंक्तियों का अनुवाद तथा बालबोधिनी नामक विस्तृत व्याख्या है।

मीमांसा के अर्थवाद को समझने के लिए यहाँ हमने संगत अध्याय से बालबोधिनी व्याख्या का साभार संकलन पाठकों की सुविधा के लिए किया है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि "अर्थवाद भी वेद के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार अर्थवाद को भी धर्म-यागादि क्रिया का प्रतिपादक होना चाहिए, अतएव अर्थवाद वाक्य अभिधा द्वारा न तो स्वार्थपरक ही होता है और न क्रियापरक ही, किन्तु वहाँ लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि अर्थवादवाक्य विधिविहित पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करते हैं। विहित एवं निषिद्ध क्रियायें होती हैं अथवा क्रियाओं के अङ्गभूत अन्य पदार्थ। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य परम्परया क्रियापरक ही होते हैं अर्थात् धर्मपरक ही होते हैं।"

एतावता, परवर्ती साहित्य में उक्त फलश्रुति भी लक्षणा शक्ति के द्वारा विधान एवं निषेध करते हैं, अभिधा शक्ति से नहीं।

विधिवाक्य जिस पदार्थ का विधान करता है उसे विधेय कहा जाता है और निषेधवाक्य जिस पदार्थ का निषेध करता है उसे निषेध्य कहा जाता है। अर्थवाद वाक्य विधेय पदार्थ की प्रशंसा करता है और निषेध्य पदार्थ की निन्दा। अर्थवाद वाक्य का वाच्यार्थ विधेय की प्रशंसा अथवा निषेध्य की निन्दा नहीं होता, यह अर्थ तो लक्षणा द्वारा समझा जाता है।

अर्थवाद वाक्य का अपने वाच्यार्थ में प्रयोजन नहीं रहा करता है। उदाहरण के लिए 'वायुर्वै क्षेपिष्ठाता' (वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है) इस अर्थवाद वाक्य पर विचार किया जा रहा है। इस अर्थवाद का अभिप्राय 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है' इस अर्थ में नहीं होता क्योंकि अर्थवाद वाक्य वेद का एक भाग है[1], सम्पूर्ण वेद अर्थात् विधि, मन्त्र-नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद वेद के इन पांचों भागों का तात्पर्य धर्म में रहता है। ये सभी धर्म-यागादि क्रिया का प्रतिपादन करते हैं[2] (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्)। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन विधि भी विधान करती है कि वेद का अध्ययन करना चाहिये अर्थात् वेद का अध्ययन सप्रयोजन है। वेद धर्म का प्रतिपादन

1. अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवाद -भेदात् पञ्चविधः। (विभाग संख्या 12)
2. वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्। (विभाग संख्या 5)

करता है और धर्मानुष्ठान से इष्ट की प्राप्ति होती है यही वेद की प्रयोजनवत्ता है। अर्थवाद भी वेद के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार अर्थवाद को भी धर्म-यागादि क्रिया का प्रतिपादक होना चाहिए, अतएव अर्थवाद वाक्य अभिधा द्वारा न तो स्वार्थपरक ही होता है और न क्रियापरक ही, किन्तु वहाँ लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि अर्थवादवाक्य विधिविहित पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करते हैं। विहित एवं निषिद्ध क्रियायें होती हैं अथवा क्रियाओं के अङ्गभूत अन्य पदार्थ। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य परपरया क्रियापरक ही होते हैं अर्थात् धर्मपरक ही होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि अर्थवादवाक्य विधि विहित एवं निषेध निषिद्ध पदार्थों की क्रमशः प्रशंसा एव निन्दा करते हैं ताकि श्रोता व्यक्ति विहित के सम्पादन से इष्ट की प्राप्ति कर सके एवं निषिद्ध से निवृत्त होकर अनिष्ट से बच सके। यही कारण है कि अर्थवाद वाक्य को निरर्थक नहीं माना जा सकता और इस प्रकार उसकी निरर्थकता की आपत्ति को इष्ट भी नहीं मान सकते।

अब ग्रंथकार अर्थवाद के प्रभेदों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

प्रकृतस्थल में ग्रंथकार ने विशेष दृष्टिकोण से अर्थवाद के के दो प्रभेद (1) विधिशेष एवं (2) निषेधशेष बतलाया है। अगले विभाग में अर्थवाद के अन्य दृष्टिकोण से तीन प्रभेद बतलाये जायेंगे।

अर्थवाद के प्रथम प्रभेद का नाम विधिशेष है। इसे विधिशेष इसलिये कहा जाता है कि यह विधेय की प्रशंसा द्वारा विधि वाक्य का पूरक होता है। विधि एवं अर्थवाद में एकवाक्यता होती है अर्थात् दोनों मिलकर एक पूर्णवाक्य होते हैं।[3] विधि के द्वारा विधेय का विधान होता है अतएव विधि मुख्य होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अर्थवाद वाक्य विधिरूप मुख्य वाक्य का एक अवशिष्ट भाग ही है। इसलिये अर्थवाद को 'विधि का अवशिष्ट भाग' अर्थात् विधिशेष कहते हैं। इसी प्रकार निषेधवाक्य की पूर्णता के लिये भी अर्थवाद की अपेक्षा होती है इसलिए निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करने वाले अथवाद को 'निषेधशेष' कहते हैं।

विधिशेष अर्थवाद का एक उदाहरण है - 'वायुर्वै' क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् 'वायु सर्वाधिक शीघ्रगामी देवता है' यह वाक्य। इस अर्थवाद को 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस विधि का शेष (पूरक) वाक्य माना जाता है। 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूमिकामः' इस वाक्य का वाच्यार्थ यह है कि ऐश्वर्य को चाहने वाला व्यक्ति वायु देवता के लिये श्वेत पशु का आलभन करे' अर्थात् इस विधि के द्वारा वायु देवता के लिये 'श्वेतपशु के आलभन' का विधान किया जाता है। हो सकता है कि विधि को सुनने वाला व्यक्ति प्रमाद-वश उक्त विधेय के अनुष्ठान में प्रवृत्त न हो अतएव विधेय में प्रवृत्त कराने के लिये 'वायुवैक्षेपिष्ठा देवता' इस अर्थवाद वाक्य द्वारा विधेय की प्रशंसा की जाती है। वायुदेवता क्षेपिष्ठा है- शीघ्रगामी है अतएव वह विधेय के अनु- ष्ठाता व्यक्ति को भूति-ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान करता है, इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद से विधेय की प्रशंसा की जाती है। विधेय की प्रशसा द्वारा व्यक्ति को विधेयानुष्ठान में प्रवृत्त करना विधिशेष का प्रयोजन है। इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद का प्रयोजन विधेय की प्रशंसा के ज्ञान द्वारा विधेय क्रिया में अधिकारी व्यक्ति को प्रवृत्त कराना है (विधिशेषस्य विधेयार्थं प्राशस्त्यबोधकतार्थवत्त्वम्)। विधेय की प्रशंसा को सुनकर आलस्ययुक्त व्यक्ति भी विधेयभूत यागादि के

3 विधिना त्वेकवाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। (जैमिनिसूत्र : 1.2.6.)

अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है अतएव विधेय के प्राशस्त्य का ज्ञान एवं ज्ञापन व्यर्थ नहीं होता है।

निषेधशेष संज्ञक अर्थवाद का प्रयोजन निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा का बोध करना है (निषेधशेषस्य निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्)।

यहाँ निषेधवाक्य का उदाहरण ' बर्हिषि रजतं न देयम्' है। इसका अर्थ यह है कि याग[4] में चांदी (रजत) की दक्षिणा नहीं देनी चाहिये' निषेध्य- 'रजतदान' की निन्दा इस 'निषेधशेष अर्थवाद से की जाती है- 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'। इस अर्थवाद के द्वारा यह ज्ञात होता है कि रोने से जो आँसू गिरे वही रजत है, इसलिये यदि रजतदान होगा तो घर में रोने का प्रसंग उठ खड़ होगा। इस प्रकार इस अर्थवाद से निषेध वाक्य द्वारा निषिद्ध- 'रजतदान' की निन्दा होने पर निषेध एवं अर्थवाद वाक्यों में एक-वाक्यता स्थापित होती है।[5] यही कारण है कि प्रकृत अर्थवाद को विधिशेष कहते हैं।

'सोऽरीदीत्' इत्यादि वाक्य के अर्थ को ठीक तरह से समझने के लिये तैत्तिरीयसंहितागत एक कथा का उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।[6] एक बार देवासुर संग्राम छिड़ा। देवताओं ने जब युद्ध के लिये प्रस्थान किया तब अपनी-अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को अग्नि के पास न्यासरूप यह सोचकर रख दिया कि यदि कदाचित् असुर विजयी हो जायें तो इन वस्तुओं से लोकयात्रा का निर्वाह हो सकेगा। किन्तु उन बहुमूल्य सुन्दर वस्तुओं को देखकर अग्नि को लोभ आ गया और वह उन सभी वस्तुओं को लेकर भाग निकला। असुरों पर विजय प्राप्त करके जब देवता लौटकर आते हैं तो क्या देखते हैं कि अग्नि सारी वस्तुओं को लिये भागा जा रहा है। देवताओं ने अग्नि का पीछा किया और उसे पकड़कर सारा सामान जबरदस्ती छीन लिया। उस सारी सामग्री के छिन जाने पर अग्नि को बड़ा आघात पहुँचा और वह रो पड़ा। रोते समय अग्नि (रुद्र) की आँखों से आँसू के दो बूंद टपके। वे ही घनीभूत होकर रजत के रूप में परिवर्तित हो गये।

निषेधशेष अर्थवाद से निषेध वाक्य द्वारा निषिध्यमान- रजतदान आदि पदार्थ की निन्दा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान भी उपयोगी है क्योंकि ऐसा बोध होने पर व्यक्ति निषिध्यमान-रजतदानादि से निवृत्त होकर रजत- दानजन्य रोदनादि रूप अनिष्टप्रसङ्ग से बच जाता है।

अब दूसरे दृष्टिकोण से अर्थवाद के अन्य प्रभेद किये जाते हैं -

पिछले विभाग में अर्थवाद का जो विभाजन हुआ था उसका आधार अर्थवाद का विधि एवं निषेध से सम्बन्धख्यापन था। जो अर्थवाद, विधिविहित की प्रशंसा करता है उसे 'विधिशेष' एवं जो निषेध निषिध्य अर्थ की निन्दा का ख्यापन करता है उसे 'निषेधशेष' कहा जाता है। प्रकृत विभाग में अर्थवाद का जो विभाजन प्राप्त होता है उसका आधार यह है कि

4. बर्हिश्शब्देन सद्विशिष्टो यागो लक्ष्यते। बर्हिषि योगे रजतं दक्षिणात्वेन न देयमित्यर्थः। (सारविवेचिनी पृ. 177-78)

5 "'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वात् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसंङ्गात् बर्हिषि रजतं न देयम् इति तन्निषेधेन विधेयेन अर्थवादस्य एकवाक्यम्। (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका- पृ. 19)

6 पुरा कदाचिद् देवासुराणां युद्ध प्रावर्तत। तत्र युद्धार्थं गच्छन्तो देवाः स्वीयमनर्घं रमणीयञ्च वस्तुजातमग्निसमीपेऽस्थापयन् यदि कदाचिदस्मानसुराः पराजयेयुः तदिदमस्माकं लोकयात्रार्थं भविष्यतीति। दृष्ट्वा च तदतिसुन्दरममूल्यं च वस्तुजातं लोभाकृष्टचित्तोऽग्निः तद्गृहीत्वा पलायत। ते वै देवा असुरान् जित्वा प्रतिनिवृत्ताः यदा पलायितमग्निमन्वागच्छन् तदा तमन्विष्य तत् सर्वमपि धन बलादाच्छिन्दन्। तादृशधनवियोगजं दुखमसहमानोऽग्निररुदत्। त एव धनीभूता रजतत्वमःपन्नाः'। (सारविवेचिनी, पृष्ठ-158)

अर्थवाद के प्रतिपाद्य विषय की अन्य प्रमाणों से सिद्धि होती है या नहीं, यह है।

इस विभाग में अर्थवाद के तीन प्रभेद किये गये हैं- (1) गुणवाद, (2) अनुवाद एव (3) भूतार्थवाद। जिस अर्थवाद के अभिधेय अर्थ का अन्य किसी प्रमाण से विरोध उत्पन्न हो रहा हो और इस प्रकार अर्थवाद के मुख्यार्थ के बाघ हो जाने के कारण गुणरूप लाक्षणिक अर्थ लिया जा रहा हो उस अर्थवाद को 'गुणवाद' कहा जाता है। इसलिए श्लोक में गुणवाद का लक्षण 'विरोधे गुणवादः स्यात्' किया गया है। 'गुणवाद' अर्थवाद' का उदाहरण 'आदित्यो यूपः' (तैत्तिरीय ब्राह्मण 21152) है। 'आदित्यो यूपः ' का वाच्यार्थ यह है कि 'यूप अर्थात् यज्ञस्तम्भ आदित्य-सूर्य हैं, किन्तु सभी व्यक्ति जानते हैं कि यूप आदित्य नहीं हो सकता। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर 'आदित्यो यूपः' का अर्थ लक्षणा द्वारा 'यूप आदित्य के समान उज्ज्वल है' होता है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा यहाँ उज्ज्वलत्वरूप 'गुण' विवक्षित है। इस रूप में गुण का 'कथन' (वाद) होने के कारण प्रकृत अर्थवाद को 'गुणवाद' कहा जाता है।

उस अर्थवाद को 'अनुवाद' कहा जाता है जिसका प्रतिपाद्य विषय अन्य प्रमाण से भी अवधारित अर्थात् निश्चित (ज्ञात) रहता है। इसीलिए ग्रन्यकार ने 'अनुवाद' का लक्षण करते हुए कहा है- 'प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः' अर्थात् अन्य प्रमाण या प्रमाणों से ज्ञात (अवगत) अर्थ का ज्ञान कराने वाले अर्थवाद को 'अनुवाद' कहते हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ 'अनुवाद' के उदाहरण के रूप में तैत्तिरीय संहिता (7।4।15।2) में प्राप्त 'अग्निहिमस्य भेषजम्' वाक्य को उद्धृत किया गया है। अग्नि शैत्य की दवा है' अर्थात् शैत्य का विनाश करने के कारण अग्नि शैत्य का विरोधी है। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से पहिले ही ज्ञात हुई रहती है, उसी ज्ञात विषय का ज्ञापन कराने के कारण 'अग्निहिमस्य भेषजम्' वाक्य को 'अनुवाद' कहा जाता है।

अर्थवाद का तीसरा प्रभेद है- 'भूतार्थवाद'। 'भूतार्थवाद' शब्द का अर्थ है - 'यथाभूतवस्तु अर्थात् यथार्थ का अभिवान करने वाला वाक्य'। जिस अर्थवादस्थल में न तो गुणवादस्थल की भाँति प्रमाणान्तरविरोध होता है और न ही अनुवादस्थल की भाँति प्रमाणान्तरावधारण होता है अर्थात् जहाँ प्रमाणान्तरविरोध एवं प्रमाणान्तरावधारण इन दोनों का अभाव होता है वहाँ 'भूतार्थवाद' संज्ञक अर्थवाद माना जाता है (प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थवोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः)। श्लोक में 'भूतार्थवाद' का लक्षण 'तद्धानात् ' किया गया है ' तद्वानात्' का विग्रह 'तयोर्हानात्' होगा और 'तयोः' का अर्थ 'प्रमाणान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयोः' होता है। 'भूतार्थवाद' अर्थवाद का उदाहरण है- 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (शतपथ ब्राह्मण 1.2.3.3)। इसका अर्थ यह है कि 'इन्द्र ने वृत्र को वध करने के लिए वज्र को उठा लिया। इस स्थल में न तो कोई ऐसा प्रमाण ही प्राप्त होता है जो 'वृत्र का वध करने के लिये इन्द्र के वज्र उठाने' का विरोध कर सके और न ऐसा ही कोई प्रमाण प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात हो सके कि 'इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्च को उठाया'। उक्त प्रकार से यहाँ 'प्रमाणान्तरविरोध' एवं 'प्रमाणान्तरावधारण' दोनों का अभाव होने के कारण 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' को 'भूतार्थवाद' अर्थवाद का उदाहरण माना जाता है।

इस प्रकार अर्थवादविषयक विचार समाप्त हुआ।

***

संस्कृत साहित्य में स्तोत्र : एक परिशीलन

डा. ममता मिश्र 'दाश'
संस्थापक सचिव,
प्रो. के.वी. शर्मा रिसर्च इंस्ट्च्यूट, अड्यार, चेन्नई

संस्कृत साहित्य में स्तोत्रों का भण्डार है। इनमें ईश्वर का गुणानुवाद, नामकीर्तन, उपालम्भ, याचना तथा क्षमा-प्रार्थनाएँ हैं। इन स्तोत्रों की रचना का अपना वैशिष्ट्य है, इनमें मनुष्य के हृदय की कोमलता, अज्ञानता, किंकरता तथा क्षुद्रता के निरूपण के साथ-साथ आलंकारिक भाषा, विद्वत्ता तथा छन्दःप्रवाह की झलक मिलती है। इस आलेख में सिद्ध किया गया है कि इन विशेषताओं के कारण अनेक ऐसे स्तोत्र हैं जो पारम्परिक रूप से जन-कण्ठ में सदियों से समाये हुए हैं। प्रस्तुत आलेख में इन स्तोत्रों के प्रकार, उनके मूलतत्त्व तथा विषयवस्तु का प्रतिपादन किया गया है। शंकराचार्य के अनेक स्तोत्रों के आधार पर स्तोत्र -साहित्य में कथ्य की विविधता भी यहाँ विवेचित है। इसी के साथ जुड़ा हुआ है- स्तोत्र की फलश्रुति का निहितार्थ। अतः फलश्रुति पर सर्वाङ्गीण विवेचन से पूर्व इस आलेख को पढ़ा जाना चाहिए।

संस्कृत साहित्य भक्ति साहित्य से परिपूर्ण है। भक्ति साहित्य में स्तुतियों की प्रस्तुति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन स्तोत्रों की परम्परा का आरम्भ ऋग्वेद की ऋचा से हुआ है और आगे चलकर यह स्तुतिशास्त्र-जैसी विद्या में बदल गया। एक अलग शैली के रूप में, इस साहित्य को, लघुकाव्य या गीतिकाव्य के रूप में लिया जा सकता है। भक्ति साहित्य, जो सामान्यतः स्तोत्र के नाम से जाना जाता है, इसका वेदों से लेकर आधुनिक काल तक, बल्कि आज तक का निरंतर इतिहास है।

न केवल चारों वेदों में प्रस्तुत स्तुतियों को सम्मिलित किया गया है, बल्कि शतक, अष्टक, लहरी, नामावली आदि के रूप में भी परिगृहीत किया गया है। सभी चार वेद या स्तुतियों का संकलन (संहिता), भारतीयों की बौद्धिक, धार्मिक, सामाजिक या औपचारिक गतिविधियों के स्रोत-ग्रन्थ रहे हैं। वे भाष्यों, उपभाष्यों, अपनी शाखाओं (वेदांगों) और आगे की शाखा साहित्य के माध्यम से भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग बन गए हैं। वेदांगों और पुराणों में वैदिक विचारों की विस्तृत व्याख्या की गई है। लेकिन वेदों या वेदांगों या इतिहास या पुराणों (या तो व्यास या वाल्मीकि या कोई अन्य) ने किसी भी स्थान या किसी भी स्थिति को नहीं छोड़ा है, जहाँ वे मन्त्र रूप में या छंद रूप में किसी स्तुति को नहीं जोड़ा हो। ऋग्वेद का वाक्य है कि वह सब दिखाता है जो वह

कहता है।[1] पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10.90), जो पाठान्तर के साथ अन्य वेदों में भी पाया जाता है, स्तुति को भी प्रदर्शित करता है। स्तुति अपने सभी रूपों में वेदों में पायी जाती है। ऋषियों द्वारा और ऋषियों के लिए स्तुति है, जो ब्रह्मांड की आवश्यकता और मानवता के लिए प्रेरणा को दर्शाती है। यजुर्वेद का रुद्राध्याय का मन्त्र "नमः सोमाय च रुद्राय च" भी वेदों के स्तोत्र का जीवंत उदाहरण है, जहाँ भगवान शिव के 265 विशेषण मिलते हैं। लेकिन पाठ कोई भी हो, भक्ति या भक्ति के पीछे की विद्वत्ता ही स्तुति या स्तोत्र में बनती है। विद्वत्ता ही मुख्य कारण है, जिससे किसी विशेष पाठ की रचना की जा सकी। हो सकता है कि रचना के पीछे का उद्देश्य आध्यात्मिक हो, लेकिन विद्वत्तापूर्ण दृष्टिकोण के बिना, भक्तिपूर्ण रचना इतनी लोकप्रिय नहीं हो सकती और जनमानस के मन को इतनी तीव्रता से नहीं पकड़ पाती।

स्तोत्र शब्द 'स्तुञ् स्तुतौ' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ 'स्तुति करना' है। और इसकी व्युत्पत्ति है— 'स्तूयते अनेन इति स्तोत्रम्' जिसके द्वारा सर्वशक्तिमान की स्तुति की जाती है। स्तोत्र को विस्तृत रूप से परिभाषित करने के लिए इसमें कहा गया है:

नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थना चेति षड्विधं स्तोत्रलक्षणम्॥

किसी भी आध्यात्मिक उपलब्धि के पीछे भक्ति अपने नौ रूपों में होती है। वे हैं— श्रवण (परीक्षित के रूप में भगवान के कार्यों और उत्कृष्टता की कथा सुनना), कीर्तन (चैतन्य के रूप में भजनों के नामों का जप करना), स्मरण (प्रह्लाद की तरह उन्हें हमेशा याद करना), पादसेवन (भगवान के चरणों में सेवा करना), अर्चन (पूजा करना), वंदन (अक्रूर की तरह उनके कार्यों की प्रशंसा करना), दास्य (हनुमान की तरह एक सेवक के रूप में उनकी सेवा करना, सख्य (अर्जुन की तरह उनसे मित्रता करना) और आत्मनिवेदनम् (उनके प्रति पूर्ण समर्पण करना)।[2] भागवत में वर्णित पात्रों से, और अन्य ग्रंथों के उदाहरणों पर विचार किया जा सकता है। भले ही यहाँ विष्णुः शब्द पाया जाता है, यह सभी संप्रदायों पर लागू होता है। इन सभी भावनाओं को केवल स्तोत्र के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है और भक्त अपने भगवान के साथ संवाद करने की कोशिश करता है। अनेक रूप में स्तुतियां बिखरी हुई हैं।

समग्र रूपसे इसका वर्गीकरण निम्न रूपों में किया जा सकता है—

1. **विरुद**— जहाँ भक्त अपने भगवान की स्तुति करके अपनी सारी पीड़ा व्यक्त करता है।
2. **गीत**— ईश्वर के समस्त कार्यों का वर्णन करना आदि
3. **पञ्चरत्न**— भगवान् के प्रति पाँच पदों का अर्पण
4. **अष्टक**— आठ पदों की स्तुति
5. **शतक**— एक सौ श्लोकों की स्तुति
6. **पञ्चशतक**— पाँच सौ श्लोकों की स्तुति अथवा पाँच सौ नामों का संग्रह
7. **पञ्चदशी**— पन्द्रह श्लोकों की स्तुति
8. **अष्टोत्तरशतनाम**— 108 नामों का संग्रह
9. **सहस्रनाम**— एक हजार नामों का संग्रह
10. **अष्टोत्तर सहस्रनाम**— 1008 नामों का संग्रह

1 अहमेव स्वयमिदं वदामि। जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः (10.125.5)
2 श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (भागवत :5.7.23)

11. **नामावली**— चतुर्थ्यन्त पद के रूप में ईश्वर के दिव्यनामों का संग्रह
12. **नवरत्नमाला**— नौ श्लोकों की स्तुति
13. **अक्षरमालिका**— श्लोकों के आरंभिक अक्षर अक्षरों के क्रम के अनुसार हैं अर्थात् यदि पहला श्लोक 'क' से शुरू होता है तो दूसरा 'ख' से और आगे बढ़ता है॥
14. **वृत्तमणिमालिका** — देवताओं को विभिन्न छंदों के प्रयोग से वर्णित किया जाता है।
15. **मंगलम्** — मंगलकामना का आवाहन करना
16. **कवच**— रक्षा के लिए प्रार्थना
17. **चित्रबन्ध**— विभिन्न भक्तिमूलक पद्यों को पद्म, गदा, चक्र, माला, हल आदि के रूप में चित्रित करना
18. **दंडक** — गेयता के साथ गद्यरचना में भगवान की स्तुति।
19. **शरणागति**— ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भावना के साथ स्तुति।
20. **क्षमापन**— उपासना के क्रम में विहित कर्म का छुटना अथवा अविहित कर्म के करने के कारण देवता से क्षमा प्रार्थना और शुभ जीवन जीने का रास्ता दिखाने का अनुरोध।
21. **मानस-पूजा**— विना किसी उपकरण अथवा साधन से मन ही मन स्मरण करते हुए षोडशोपचार-पूजन।

शांति अर्थात् भगवान के प्रति आकर्षण स्तोत्र का रूप ले लेता है। स्तुति और कुछ नहीं; बल्कि भगवान के निकट बैठना है। इसलिए इसे उपासना (उप+आसना) नाम दिया गया है, जिसमें देवता के निकट बैठना, फिर अंतिम समर्पण (आत्मसमर्पण) शामिल है। चाहे प्रेम से या भक्ति से या भय से, भक्त देवता की शरण लेना है। जब मन की स्थिति भक्ति से अनुकूलित होती है, तो यह स्तोत्र के माध्यम से परिलक्षित होती है। किसी व्यक्ति के लिए आत्म-संतुष्टि ही सबसे बड़ा कारण है। आपस्तंबधर्मसूत्र कहता है:

आत्मलाभात् परो लाभो नास्तीति मुनयो विदुः।
तल्लाभार्थं कविः स्तौति स्वात्मानं परमेश्वरम्॥[3]

इसके बदले में देवता भक्त पर प्रेम और आशीर्वाद बरसाते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रकार के स्तोत्रों को उनकी रचना की प्रकृति के आधार पर 5 समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। वे हैं:

i. **संख्याश्रित**– सभी स्तोत्र, जो या तो भगवान के नामों की संख्या या श्लोकों की संख्या से बंधे हैं।
ii. **फलाश्रित**– इस समूह में अनुग्रह, उपालंभ, पीडाहरण– आदित्यहृदय स्तोत्र (रामायण) शामिल हैं।
iii. **ध्यानपूजाश्रित**– न्यास ध्यान, अपराधक्षमापन, मानसपूजा, आत्मबोध, कैवल्य आदि.
iv. **मन्त्रपदाश्रित** – ऐसे स्तोत्र जिनमें ॐ। श्री। क्लीं आदि बीजाक्षर रहें।
v. **शास्त्राश्रित**– कुछ विशेष सम्प्रदाय, सिद्धांत आदि पर आधारित।
vi. **काव्यफलाश्रित**– इस विविध प्रकार की स्तुतियों के समूह में कोश, भाषा, छंद, अलंकार, कथात्मक, उपदेशात्मक आदि शामिल हैं। इस शैली में कवि या भक्त को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने के लिए अधिक अवसर मिलता है।

स्तोत्र के अनुशीलन की दो पद्धतियाँ हैं— एक

3 आपस्तंबधर्मसूत्र (1.22.2)

"स्तुति नाम, रूप, कर्म और सम्बन्ध द्वारा व्यक्त की जाती है और आशीर्वाद स्वर्ग, सुदीर्घ जीवन, धन और संतान के रूप में माँगा जा सकता है।"

मार्ग भक्तिमार्ग हो सकता है। दूसरा मनोवैज्ञानिक मार्ग है। अब यह अध्ययन करना है कि क्या पूर्व, बाद वाले का कारण है या बाद वाला, पहले का कारण है। लेकिन कारण जो भी हो, यदि उनमें काव्यात्मक क्षमता नहीं होगी, तो स्तोत्र इतने आकर्षक नहीं होंगे और आम आदमी पर उनका स्थायी प्रभाव नहीं होगा। यदि हम रामायण और महाभारत का अध्ययन करें, तो अनुभव किया जा सकता है कि वाल्मीकि या व्यासदेव विषय में एक स्तोत्र सम्मिलित करने के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। अन्य सभी पुराण भी इसी प्रकार स्तोत्र प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्मांडपुराण में उपलब्ध ललितासहस्रनाम देवी पर सबसे प्रख्यात स्तोत्र में से एक है। उपर्युक्त समूह से मन्त्रपदाश्रित को छोड़कर, अन्य सभी स्तोत्र प्रतिभा, भावनात्मक भावनाओं और छंदात्मक सद्भाव से भरे हुए हैं। सन्दर्भ के अनुरूप छन्दों का असाधारण प्रयोग, एक आम आदमी को हमेशा बिना रुके पाठ करने के लिए आकर्षित करता है। उपमाएँ, रूपक, विभिन्न शब्दालंकार स्तुति के रचयिता की प्रतिभा को प्रदर्शित करते हैं, जो भक्ति को अपनी नाव बनाकर ज्ञान के सागर में तैरना चाहता है। गीत या प्रार्थना के रूप में कुछ स्तोत्र फिर से संगीत के साथ मिश्रित होते हैं। ये प्रार्थनाएँ सन्तों के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के निरन्तर प्रयास को दर्शाती हैं। अधिकांश स्तोत्र पौराणिक कथाओं से युक्त हैं, जो रचनाकार के गहन ज्ञान को भी प्रदर्शित करते हैं। संगीतकार इतने कलात्मक तरीके से स्तोत्रों की रचना करते हैं कि यह मन को भक्ति के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक रूप से भी शांत कर देते हैं।

ऋग्वेद का विस्तार बृहद्देवता[4], 1.7 श्लोक में स्तुति द्वारा सिद्धियों के अन्वेषण के सम्बन्ध में शौनक कहते हैं:

स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।
स्वर्गायुर्धनपुत्राद्यैरर्थैराशीस्तु कथ्यते॥

स्तुति नाम, रूप, कर्म और सम्बन्ध द्वारा व्यक्त की जाती है और आशीर्वाद स्वर्ग, सुदीर्घ जीवन, धन और संतान के रूप में माँगा जा सकता है।

वे पुनः कहते हैं—

स्तुत्या चैव विभूत्या च वाक्प्रभावेण चात्मनः।
स्तुतिः प्रशंसा निन्दा च संशयः परिवेदना॥[5]

स्तुति की शक्ति को प्रतिपादित करते हुए वे पुनः कहते हैं—

स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य (2.6) यह ऋग्वेद, मन्त्र 1.37.12 का प्रतिबिंब है।

बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में स्तुति, स्तुति के प्रकार, स्तुति की रचना के उद्देश्य आदि के बारे में विस्तार से चर्चा है।

जगद्धर भट्ट ने अपनी स्तुतिकुसुमांजलि के 36वें अध्याय में स्तुतिफलप्राप्ति का विवेचन किया है, जहाँ 41 पद्यों में वे स्तोत्रकार कवि की प्रशंसा करते हैं।[6]

अन्ततः वे स्तोत्र और स्तोत्र के रचयिता तथा

4 मैकडॉनल द्वारा दो खण्डों में सम्पादित, 1904ई. 5 बृहद्देवता : 1.34-35

6. ते तक्षाणं तरुमिव गुरुं त्वामघं तक्षयन्ति प्राप्तुं तृप्तिं शुभफलभरं निर्भरं भक्षयन्ति। प्रत्यासन्नां श्रियमपि धिया तीक्ष्णया लक्षयन्ति त्वद्भक्तान्ये श्रुतिमिव नुतिं तावकीं शिक्षयन्ति॥ 36.41

इसका पाठ करनेवाले भक्त पर इसके प्रभाव की प्रशंसा करता है।[7]

यद्यपि यहाँ जगद्धर भगवान् शिव के भक्तों के लिए संकेत भी देते हैं, लेकिन कई छंदों में वे संप्रदाय से ऊपर उठकर आराध्य को निर्दिष्ट किए बिना भक्त पर स्तोत्रपाठ के प्रभाव का विवेचन करते हैं। उनका कहना है कि वेदों के बाद स्तोत्र का पाठ किया जा सकता है। शंकराचार्य स्तोत्र की रचना करने में अग्रणी हैं और भक्त जगत् इससे लाभान्वित होता है।

स्तोत्र के मूल भाव भक्ति के अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिक बिंदु भी स्तुतियों के प्रति आकर्षण के विषय हैं। कैसे एक स्तोत्र इतना लोकप्रिय है और बिना किसी रुकावट के हम तक पहुँच गया है। विष्णुषट्पदीस्तोत्र में "सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः" (श्लोक 3) का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है, हालांकि शंकराचार्य ने पूरी तरह से नारायण के प्रति समर्पण कर दिया है और कहते हैं कि यद्यपि ईश्वर तथा जीव में कोई भेद है ही नहीं किन्तु थोड़ी देर के लिए यह भेद मान भी लिया जाये तो हम अर्थात् जीव ईश्वर के हैं; ईश्वर हमारे नहीं हैं। जैसे तरंग को समुद्र में उत्पन्न (सामुद्र) कहा जाता है, समुद्र को तरंगों से बना (तारङ्ग) नहीं कहा जा सकता है।[8] एक बहुत ही सामान्य उदाहरण से वाक्य रूपक में बदल जाता है, वह एक दार्शनिक सिद्धान्त को स्पष्ट कर देता है और मूल बात सामान्य जन तक पहुँच जाती है।

शिवमानसपूजा (पर शीर्षक-मानसपूजा) शंकराचार्य एक सामान्य जन की आकांक्षा, उसकी आवश्यकताओं को प्रदर्शित करते हैं। मनुष्य जो कुछ भी चाहता है, वह अपने देवता के लिये ही चाहता है। एक सामान्य जन सभी साधन (पूजा के लिए जाती, चंपक, बिल्व, चंदन आदि) प्राप्त करने में सक्षम नहीं है[9], लेकिन मैं अपने हृदय में इन सभी चीजों को समेट कर ईश्वर को समर्पण कर सकता हूँ और हे भगवान्, कृपया इसे स्वीकार करें। एक भक्त अपने लिए नहीं बल्कि अपने भगवान के लिए कुछ भी संग्रह करने और अर्पित करने की कल्पना कर सकता है। उसकी इच्छा हो सकती है कि वह सोने के बर्तन में भगवान को विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन का भोग लगाए और यह संभव भी है, क्योंकि वह अन्तरात्मा से चाहता है।

शिवापराधक्षमापन स्तोत्र में वे एक सामान्य व्यक्ति के जन्म से लेकर उसकी प्रत्येक गतिविधि का वर्णन करते हैं। इस स्तोत्र में वर्णित क्रियाएँ शाश्वत हैं। जन्म से लेकर माँ के दूध पर पलना, छोटी उम्र में भौतिक लालसाओं से ग्रस्त होना, रोगों से पीड़ित होना और अन्त में बुढ़ापे में अपने परिजनों से हीन हो जाना। वे मानव के प्रत्येक चरण का वर्णन करते हैं, जो हर किसी के लिए समान है, चाहे वह धनी हो या निर्धन।

7. ते रागादीन्मनसि मिलितानाशु विश्लेषयन्ति क्रोधान्धानप्यतनुविनया न क्वचिद् द्वेषयन्ति। मोहध्वान्तं धनमधिमतिव्योम निःशेषयन्ति त्वत्पार्श्वं ये गिरमभिमतप्राप्तये प्रेषयन्ति॥ 36.37
8. सत्यपि भेदावगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
9. जातीचम्पकबिल्वपत्ररचितं पुष्पं च धूपं तथा। दीपं देव दयानिधे पशुपते हृत्कल्पतं गृह्यताम्।

अंत में वे कहते हैं कि पुत्र, पत्नी, धन, संपत्ति, पशु आदि सभी अस्थायी हैं।[10]

भवान्याष्टक स्तोत्र में शंकराचार्य ने मनुष्य की उन सभी अवस्थाओं का वर्णन किया है जो वह अपनी लापरवाही के कारण कुसङ्गी, कुबुद्धि, कुदास आदि बन सकता है, या वह अदृश्य हाथों से प्रभावित होकर अनाथ, दरिद्र, जरारोगयुक्त आदि बन सकता है। और फिर वे कहते हैं कि कोई भी किसी भी समस्याओं का या विपत्ति का सामना कर सकता है। वह किसी न किसी तरह से अपनी जिंदगी खराब कर लेता है। इसलिए उसे अपने जीवन के हर चरण यानी विवाद, विषाद, प्रमाद, प्रवास में मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। यहाँ वे आम आदमी को सावधान करते हुए कहते हैं कि चाहे कोई भी स्थिति में हो, लेकिन ये सभी समस्याएं आना स्वाभाविक है और इसके लिए एक मित्र और मित्रवत मार्गदर्शन की जरूरत होती है।

देवीभुजंग में, वे जीवन में भय के कारण की ओर इशारा करते हैं।[11] सौन्दर्यलहरी में वे दार्शनिकता के अधिक समीप हैं।

वेदसारस्तव में शंकराचार्य ब्रह्मांड के निर्माण के कारणों की ओर संकेत करते हैं, जहाँ ईश्वर सबसे ऊपर हैं।

'शिवाष्टक' और 'शिवपंचाक्षरस्तोत्र' प्रकार के स्तोत्र पूरी तरह से पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं और भगवान् शिव की प्रतिष्ठित सुंदरता का विभिन्न स्वरों में वर्णन किया गया है। समुचित पर्यायवाची, व्याकरणिक सौन्दर्य का प्रयोग स्तोत्र को पठनीय बनाता है और सामान्य पाठक को भक्तिभाव से हृदय में असीम आनंद की प्राप्ति होती है। सौंदर्यलहरी में शंकराचार्य दर्शन, मानव शरीर-विज्ञान, ऋतुओं आदि से संबंधित वर्णन करते हैं, भले ही इस स्तोत्र को अधिकतर तंत्रात्मक पाठ के रूप में स्वीकार किया जाता है।

"तस्मात् त्वमेव शरणं मम दीनबंधो" इस पंक्ति के साथ ब्रह्मानंद विरचित हरिशरणाष्टक समाज, सम्बन्ध आदि की वास्तविक सत्यता का सुन्दर उदाहरण है। वे कहते हैं कि जब समस्या आती है तो कोई आपकी सहायता या समर्थन के लिए आगे नहीं आता। न भाई, न पिता, न माता, न परिवार, न पत्नी, न बच्चे, न शक्ति ही काम आती है। अतः हे दीनबन्धु! तुम ही एकमात्र सहारा हो, जहाँ मैं आश्रय ले सकता हूँ।[12]

वासुदेव सार्वभौम की चैतन्यचरितामृत-जैसी कुछ रचनाएँ छंदों के किसी नियम या विधि से बंधी नहीं हैं, लेकिन एक प्राकृतिक प्रवाह है, जहाँ केवल भक्ति प्रदर्शित होती है।

एक भक्त अपने भगवान को उपालम्भ दे सकता है (चौराष्टक में), दूसरा भक्त अपने भगवान से माँग कर सकता है (सालबेग रचित पतित-पावनाष्टक)। यहाँ तक कि दुर्व्यवहार या दुष्कर्म भी भगवान् की प्रशंसा के योग्य हैं (मधुराष्टक में)।

लेकिन ये सब भगवान तक पहुँचने के मार्ग हैं। स्तोत्र की रचना करते समय भक्त केवल भक्ति के

10 किं वा पुत्रकलत्रमित्र पशुभिर्देहेन गेहेन किं

11 शरीरेऽतिकष्टे रिपौ पुत्रवर्गे सदाभीतिमूले कलत्रे धने वा।

12 नो सोदरो न जनको जननी न जाया नैवात्मजो न च कुलं विपुलं बलं वा। सन्दृश्यते न किल कोऽपि न सहायको मे तस्मात् त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो!

सागर में डूबा रहता है और तरंगों के गीतों के माध्यम से अनन्त भवसागर को पार करना चाहता है।

एतावता जगद्धर भट्ट (1350 ई.) ने अपनी स्तुतिकुसुमांजलि[13] में, जिन्होंने विभिन्न विषयों पर 38 स्तुतियाँ लिखी हैं और वंशवर्णनात्मक 39वें स्तुतिफलप्राप्तिस्तोत्र में लिखते हैं (कुल 1409 श्लोक)—

देवालये वसति नार्थयते कपोतः
सिन्धौ वणिग् भजति वृत्तिमशङ्कपोतः।
पृष्ठे श्रियं वहति नित्यमनेकपोऽतः
त्वद्भक्तिमेति सरसीमिव भेकपोतः॥

अनुप्रास (कपोतः अशङ्कपोतः अनेकपोऽतः भेकपोतः आदि) और उपमा के संयोजन के साथ जगद्धर भट ने देवी सरस्वती से प्रार्थना करते हुए कहा कि "जैसे कबूतर मंदिर में अपने जीवन के लिए किसी भी खतरे से नहीं डरता, नाविक अपनी आजीविका पाने के लिए अपनी नाव के साथ समुद्र में चला जाता है, हाथी (अनेकपः) देवी लक्ष्मी को अपनी पीठ पर रखकर खुशी से चलता है, मेंढक का बच्चा साफ जलाशय में स्वतंत्र रूप से घूमता है, हे देवी सरस्वती, मैं आपकी शरण लेता हूं!

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' में जगद्धर भगवान् को उपालम्भ देते हुए कहते हैं कि हे भगवान् शरण में आये मुझे त्यागते हुए आपको लज्जा नहीं आती है? हे भगवान् क्या आप अज्ञानी हैं? दुर्बल हैं या स्वयं किसी विपत्ति में फँस गये हैं?

व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते। 11.102,
अज्ञोऽसि किं, किमबलोऽसि, किमाकुलोऽसि?

स्तुति के प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए वे फिर कहते हैं, "हे भगवान! वे महान् हैं, जो आपकी प्रार्थना को अपने हृदय में रखते हैं, वे दुःख के वृक्षों को उखाड़ देते हैं। जो प्रार्थना को गीत बनाकर नृत्य करते हैं, वे आपका चिन्तन करते हुए निवास करते हैं और एक बच्चे की तरह नृत्य करते हैं।14

कुछ ऐसे स्तोत्र भी हैं जो विज्ञान सम्बन्धी तथ्यों से परिपूर्ण हैं। देवताओं की कल्पना ज्ञान के देवता, दीपक के देवता, जीवन के देवता, औषधि के देवता, प्रेम के देवता, आंतरिक आत्मा के देवता के रूप में की जाती है। उन्हें प्रेम के भगवान, सभी बाधाओं से रक्षक, धर्म या संप्रदाय के बावजूद, त्राणकर्ता के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है और किसी भी स्तोत्र का उद्देश्य सामान्य है यानी सर्वशक्तिमान तक पहुंचना।

लेकिन यदि कुछ स्तोत्रों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाए या समझा जाए, तो अनुभव किया जा सकता है कि कभी-कभी वे समर्पणपरक से अधिक उद्देश्यपरक होते हैं।[15]

अनेक स्तोत्रों के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है कि किसी भी स्तोत्र या मन्त्र का जप करने के लिए पाँच तत्त्व आवश्यक हैं। अतः विषयानुसार इन्हें 7 श्रेणियों में समूह बनाया जा सकता है।

13 मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौरी गली वाराणसी सिटी, 1938

14 ते त्वत् स्तुतिं हृदयधाम्नि कवाटयन्ति दुःखद्रुमं च दृढमापदि पाटयन्ति। भावं तवैव भुवि बालमिवाटयन्ति ये वाङ्गटीमभिमुखं तव नाटयन्ति ॥

15 धनधान्यकरं नित्यं गुरुदेवद्विजार्चनम् — राजवल्लभ (शब्दकल्पद्रुम के अनुसार)

"वेदों या वैदिक साहित्य में, इस ब्रह्मांड की प्रत्येक वस्तु की प्रशंसा की गई है, पर्वत, नदी, पेड़, हवा, पानी आदि। लेकिन बाद के काल में ये वस्तुएँ एक विशेष भगवान की पूजा का माध्यम बन गई हैं। "भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः", "शं नो मित्रः", "सं गच्छध्वं"-जैसी भावनाओं से "निर्विघ्नं कुरु मे देव", "सा मां पातु सरस्वती"-जैसी भावनाएं हमें जकड़ने लगी हैं।"

i. **गुरु**– सभी संप्रदायों के बावजूद हिंदू जीवित गुरु पर आस्था रखते हैं। वे गुरु को सर्वोच्च सम्मान देते हैं।[16]

ii. **पवित्रता**– स्वयं को समर्पित करने के स्तोत्र के लिए सबसे पहले धार्मिक आदेशों का पालन किया जाता है, जैसे कि स्नान करना, पर्यावरण को शुद्ध रखना। तभी प्रार्थना की जा सकती है। जिस प्रकार स्तोत्र जप से पहले शारीरिक शुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार स्तोत्र जप के बाद आंतरिक अशुद्धता दूर हो जाती है।

iii. शुभता– शुभ समय, तिथि महीनों की गणना, मुहूर्तों को ध्यान में रखा जाता है। वस्तुतः इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए जब कोई साधक ईश्वर की शरण में जाता है तो उसकी अंतरात्मा भी शुभ हो जाती है।

iv. विभिन्न संप्रदाय किन्तु एक सत्यता– चाहे वेदांतियों के लिए पूर्णब्रह्म, या शैवों के लिए शिव या वैष्णवों के लिए नारायण, बौद्धों के लिए तथागत या जैनियों के लिए अर्हत, किसी भी संप्रदाय का केंद्र बिंदु ईश्वर, सर्वशक्तिमान के साथ होना है।

v. दुखियों की सेवा – संसार के सभी कष्टों से मुक्ति पाने की इच्छा।[17]

vi. समर्पण– शरीर, मन, इंद्रियाँ, शब्द तथा अन्य सबकुछ भगवान को समर्पित है।

vii. सार्वभौमिक मंगलकामना– ऐसे प्रदर्शन हैं, जो जन-जन को लाभ पहुँचाने के लिए किए जाते हैं, हालांकि वैदिक साहित्य में यह अधिक देखा जाता है।

वैदिक काल से लेकर अब तक स्तोत्र मानव जीवन का अभिन्न अंग बन चुके हैं। जबकि वैदिक काल या वैदिक साहित्य में, स्तोत्र सभी के लिए थे, समूह (वयं, नः, यूयं —) के लिए उद्दिष्ट था, बाद के काल में यह विचार व्यक्तिगत (मे, मम, अहं) में बदल गया। वैदिक साहित्य में सुरक्षा, समृद्धि, मोक्ष के लिए प्रार्थना की गई थी। कालान्तर में यह कायाकल्प, संकटनाश, कामना पूर्ति, असहायता आदि से मुक्ति पाने में बदल गया।

शांति मन्त्र "भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयामः"[18] सभी के लिए है या "मधु द्यौरस्तु नः पिता", "माध्वीर्गावो भवन्तु नः[19] सभी की इच्छा है "वयं जयेम त्वया"[20] सबकी सामान्य अपेक्षा है। अन्य वेदों में भी प्रार्थनाएँ सामूहिकता के लिए हैं। और ऐसे उदाहरण असंख्य हैं, लेकिन शास्त्रीय साहित्य में यह "क्षन्तव्यो मेऽपराधः" या "निर्विघ्नं कुरु मे" "सा मां पातु सरस्वती" में बदल गया है। वेदों या वैदिक साहित्य

16 गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुस्साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

17 भारतीय समाज में कुछ विशेष अवसरों पर गरीबों को खाना खिलाना भी बहुत आम बात है।

18 ऋ. वे. 1.89.8 19 ऋ. वे. 1.90.6

में, इस ब्रह्मांड की प्रत्येक वस्तु की प्रशंसा की गई है, पर्वत, नदी, पेड़, हवा, पानी आदि। लेकिन बाद के काल में ये वस्तुएँ एक विशेष भगवान की पूजा का माध्यम बन गई हैं। "भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः", "शं नो मित्रः", "सं गच्छध्वं"—जैसी भावनाओं से "निर्विघ्नं कुरु मे देव", "सा मां पातु सरस्वती"—जैसी भावनाएँ हमें जकड़ने लगी हैं।

भारतीय परम्परा के अनुसार किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। यह मंगलाचरण नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक या वस्तु-निर्देशात्मक के रूप में होता है। अधिकतर ग्रन्थ नमस्कारात्मक मंगल के साथ प्रारम्भ होते हैं, पर अगर बाकी दो तरह के मंगलाचरण हो भी, अगर हम विश्लेषण करें तो देखा जाय कि इनमें कहीं न कहीं नमस्कार जैसा आत्मसमर्पण छिपा रहता है।

काव्य, धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थों में नमस्कारात्मक श्लोक यानी स्तोत्र उपलब्ध हैं ही, पर विज्ञानविषयक ग्रन्थ जैसे सिद्धान्तज्योतिष, गणित, रसशास्त्र, वैद्यशास्त्र, कामशास्त्र आदि भी नमस्कार या भक्ति से दूर नहीं हैं। इन सब ग्रन्थों में प्रारम्भ में या मध्यभाग में किसी न किसी देवता के उद्देश्य में एक दो नमस्कारात्मक श्लोक मिल जाते हैं। गणेशवाणी-व्यासानां (तन्त्रयुक्ति), ब्रह्म-भू-शशि-बुध-भृगु-रवि-कुज-गुरु-कोण भगणान् नमस्कृत्य (आर्यभटीय), प्रजापतिं नमस्कृत्य (कृषिपराशर), श्रीमत्कृष्ण-पदारविन्द (वररुचि कृता पत्रकौमुदी), नमश्शिवाय नाथाय (पुण्यानन्द कृत कामकला-विलास) आदि प्रमाण के रूप में हमारे पास है।

दरअसल फूल, फल, धूप आदि का उपयोग देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नहीं, बल्कि स्वयं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था।

कालान्तर में फलश्रुति स्तोत्र का एक भाग बन गयी। यद्यपि जगद्धर भट्ट ने स्तुतिफलप्रशंसा नाम से एक अध्याय बनाया है, जिसमें वे भगवान के साथ सहमत नहीं हैं, लेकिन उन्होंने स्तोत्र सुनने के प्रभाव का वर्णन किया है। कुछ स्तोत्रों में फलश्रुति स्तोत्र का अंग बन गयी है। प्रसिद्ध हनुमान चालीसा (हालांकि संस्कृत में नहीं) में फलश्रुति पर कम से कम 2 छंद हैं और अंतिम में रचनाकार के नाम का उल्लेख है। इस प्रकार इस स्तुति में वास्तव में 37 दोहे हैं, जहाँ हनुमान की महानता का वर्णन किया गया है। आदित्यहृदय स्तोत्र[21] में फलश्रुति भी पाठ का एक भाग है।

बुद्धिस्वास्थ्यं मनस्वास्थ्यं स्वास्थ्यमैन्द्रियकं तथा।
ममास्तु वासुदेवस्य देव देवस्य कीर्तनम्॥[22]

इस प्रकार के स्तोत्रों का पर्यवेक्षण करें तो एक साधारण मानव इतने भक्तिभाव से जुडा रहता है कि, कहाँ वह अपने लिये कुछ मांग सकता है। इसके बावजूद कुछ स्तोत्रों में फलश्रुति जोड़ दी गयी है। और इस तरह पंचक-स्तोत्र, अष्टक-स्तोत्र में 5 या 8 पद्यों के बजाय अधिक श्लोक हो जाते हैं। इन श्लोकों को इस प्रकार जोड़ा गया है कि इसे आम आदमी जप करने का मुख्य उद्देश्य मान लिया है। और यह सिर्फ भगवान और भक्त के बीच समझौते को दर्शाता है। मुख्य स्तोत्र और फलश्रुति के बीच न कोई भाव का सम्बन्ध है न कि भाषा का।

20 ऋ. वे. 1.102.4
21 वाल्मीकि-रामायण, युद्धकाण्ड
22 वामनपुराण 86.19

संस्कृत स्तुति-विद्या का वैदिक काल से लेकर आजतक एक लम्बा इतिहास रहा है। आधुनिक समय में भी, भक्ति एवं उत्साह के साथ काफी मात्रा में रचनाएँ रची गई हैं और सभी रूपों में स्तुतियाँ रची गई हैं। यह एक सतत प्रक्रिया है; क्योंकि यह मानवीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है।

भारत में स्तोत्र का या जप करने की प्रथा बहुत आम है। बच्चे को स्तोत्र के किसी भी रूप से परिचित कराया जाता है। और ऐसा माना जाता है कि यह परमात्मा के समीप होने का एकमात्र तरीका है। स्तोत्र के माध्यम से भक्त भगवान को संबोधित करके उनसे सीधा सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है। यह न केवल मुक्ति के लिए है, बल्कि वरदान के माध्यम से उनका प्रेम पाने के लिए भी है।

समाज इन स्तुतिकारों और महिलाओं का आभारी रहेगा, जिन्होंने गीतों और दैनन्दिन की गतिविधियों के माध्यम से स्तोत्र को संरक्षित किया है। और वे इन स्तोत्रों को अपने उत्तराधिकारियों तक पहुँचाने में सहायक हैं।

असंख्य स्तोत्र अभी प्रकाशित हैं; जबकि कई स्तोत्र अभी भी पांडुलिपियों में छिपे हुए हैं तो कुछ स्तोत्र अपने प्रणेता के नाम के बिना भी हम तक पहुँचे हैं। इस प्रकार के स्तुतिकारों के लिए उनका नाम नहीं, बल्कि उनकी कृति अमर रही है। कुछ स्तोत्रों का श्रेय शंकराचार्य को दिया गया है, शायद इसी उद्देश्य से कि वह रचना जन-जन तक पहुँचे।

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वेदान्तदेशिक, श्रीचैतन्य, रूपगोस्वामी, वल्लभाचार्य, विट्ठलेश्वर, आनन्दतीर्थ जैसे आचार्यों ने स्तोत्रावली रचना करके भक्ति साहित्य की नींव स्थापना की है। लेकिन क्या इनके द्वारा रचित स्तोत्रों में फलश्रुति है?

फलश्रुति के उद्देश्य को बिना समझे हम भगवान् या भगवती से बोलते भी हैं कि— ... पठेन्नित्यं महापातकनाशनम्।

स्तोत्र की उचित परिभाषा देते हुए महाकवि कालिदास कहते हैं "स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि।"[23]

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्याम्
अप्रयुताम् एवयावो मतिं दाः॥[24]

हे भगवान् विष्णु ! आपने हमको अपनी इच्छा को महसूस करने के लिये मति दी है, पर ऐसी मति दें कि सबकी भलाई करें और हमसे कोई गलती न हो जाय।

सन्दर्भ :

1. V. Raghavan, Prayers Praises & Psalms, G.A. Natesan & Co. Madras, 1938.
2. M.L. Wadekar, Dr. Sweta Prajapati A Survey of Sanskrit Stotra Literature, Ed, Bharatiya Kala Prakasan, Delhi, India, 2013
3. स्तोत्ररत्नावली, गीताप्रेस गोरखपुर।

***

23 रघुवंश 10.30

24 ऋ. वे. 7.100.2

फलश्रुति से ईश्वर की ओर अग्रसर होता मानव

श्री महेश शर्मा 'अनुराग'
सनातन धर्म के अनछुए प्रसंगों पर शोधकर्ता। 18. स्नेह नगर,सुभाष नगर के पास, उज्जैन, मध्यप्रदेश पिन 456010

नाना प्रकार की लौकिक कामनाओं की पूर्ति, निरंतर विपदाओं से, बाधाओं से, संघर्षों से मुक्ति हेतु कोई भी व्यक्ति, चाहे पुरुष हो महिला हो, ईश्वर आराधना के पथ पर चलने को विवश हो जाता है। बिना किसी दुष्परिणाम और विषमता के दुखों पर विजय पाने का यही एकमात्र सकारात्मक उपाय है।

वह देवी देवताओं के विभिन्न स्तोत्र, सहस्त्रनाम पाठ के पथ पर अग्रसर हो जाता है। वेद और पुराण विभिन्न देवी देवताओं की स्तुतियों, सहस्त्रनाम आदि से बहुत बड़े स्तर पर भरे पड़े हैं।

गायत्री मन्त्र को नए सिरे से पूरे विश्व में विस्तारित कर देने वाले आचार्य श्री राम शर्मा ने लिखा था, कि विभिन्न स्तुतियों, स्तोत्र की फल श्रुति पढ़कर व्यक्ति के मन में एक प्रकाश फैलता है, वह फल श्रुति पढ़कर विद्युत गति से ईश्वर आराधना में तत्काल संलग्न हो जाता है वह प्रलोभित हो जाता है कि इस स्तोत्र के पाठ में दिए फल से वह भी अपने दुखों का अंत करने में, सुख की वृद्धि में तथा आध्यात्मिक उन्नति में सफल हो जायेगा।

विभिन्न स्रोतों में सहस्त्रनाम वाचन की विराट परंपरा है। पुराणों में और तंत्र ग्रंथों में गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव, सरस्वती, गायत्री, सावित्री, लक्ष्मी, दुर्गा या पार्वती, देवी देवताओं के पुत्रों तथा कार्तिकेय आदि और देवताओं के अवतारों यथा विष्णु अवतार में राम, श्रीकृष्ण, नरसिंह, दत्तात्रेय, वराह और शिव के अवतारों में हनुमान, भैरव आदि अवतारों के साथ नवग्रहों में शनि आदि के सहस्त्र और एक सौ आठ नामों के विशाल कोश सनातन धर्म में पूरी शक्ति के साथ विद्यमान है।

गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव, सरस्वती, गायत्री,सावित्री, लक्ष्मी और दुर्गा के कम से कम दो और अधिक से अधिक छह या सात प्रकार विभिन्न पुराणों, तंत्रों और अन्य धर्म ग्रंथों में प्राप्त होते हैं।

यहाँ हम सहस्त्रनाम स्तोत्र पर ही विशेष बल दे पाएंगे। विभिन्न सहस्त्र नामों की फल श्रुति अलग अलग प्रकार से वर्णित है। ये लौकिक सुखों, भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से इतनी अनंत महिमा और आकर्षण से भरी है कि व्यक्ति तत्काल पूरी शक्ति और मनोयोग से जुड़ जाता है।

उदाहरण के लिए गणेश पुराण में गणेश जी के विलक्षण नामों की महिमा के साथ अंत में लिखा है इसके पाठ से क्षय, कोढ़, विशुचिका, पथरी, अतिसार,खांसी, दमा, शीरोरोग, मधुमेह आदि रोगों का तत्काल शमन हो जाता है। भगवान विष्णु के सहस्त्रनाम पद्मपुराण, स्कंदपुराण, महाभारत आदि में प्राप्त होते है। पद्म पुराणोक्त श्रुति में विश्वमाता पार्वती के पूछने पर भगवान शिव कहते हैं, यदि विष्णु सहस्त्रनाम का वाचन किसी कारण से न हो सके तो राम..राम का जप ही सहस्त्र के बराबर है। स्कंद पुराण विष्णु सहस्त्रनाम में स्थान या तीर्थ की महिमा गाई गई है। वर्णन है कि बदारिकाश्रम, हरिद्वार, प्रयाग और उज्जैन में वाचक सिद्धि लाभ करता है।

शिवपुराण अनुसार दानवों के वधार्थ जब विष्णुजी ने सहस्त्रनाम से अर्चन के बाद शिवजी से प्रज्वलित सुदर्शन चक्र प्राप्त किया तब भगवान शिव स्वयं कहते हैं, राजाओं के सामने संकट उपस्थित होने मेरे सहस्त्रनाम पाठ से कल्याण की प्राप्ति होगी।

शेष पृ. 35 पर

धर्मायण की अंक-संख्या 55 में पूर्वप्रकाशित आलेख

देवी माहात्म्य के परिप्रेक्ष्य में फलश्रुति

पं. मार्कण्डेय शारदेय
सनातन ज्योतिष, पाटलिग्राम एपार्टमेंट, शहीद भगत सिंह पथ, बजरंगपुरी, गुलजारबाग, पटना-800007

उपासना में फलश्रुति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह मानव की प्रवृत्ति है कि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" और वही प्रयोजन फल है और उसका कथन फलश्रुति। निष्काम कर्म तो कुछ भी हो ही नहीं सकता,कामना चाहे सांसारिक सुख की हो अथवा अक्षत ब्रह्मसायुज्य की हो। इस आलेख में शक्तिपूजा की परम्परा में फलश्रुति के विधान पर विशेष रूप से विचार किया गया है। लेखक का अभिमत है कि उपासना के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए तथा ग्रन्थों की भी रक्षा ओर ख्याति प्रदान करने के लिए फलश्रुति का विधान किया गया है। इसके माध्यम से ऋषियों ने हमें विधि तथा निषेध का पाठ पढ़ाया है।

सकाम भक्तों के यहाँ फलश्रुति का बड़ा महत्त्व है। चूँकि वे किसी विशिष्ट अभिलाषा की प्राप्ति के लिए ही अपने आराध्य देव या आराध्या देवी की उपासना करते हैं, इसलिए वे 'किं फलम्' के पश्चात् ही 'किं विधानम्' जानना चाहते हैं।

यद्यपि निष्काम भक्ति श्रेष्ठ है, तथापि यह सबको प्रिय नहीं हो सकती। वीतराग या कोई-कोई विरला ही इसकी ओर उन्मुख हो सकता है। इसीलिए प्रत्येक व्रतोपवास या पूजा-पाठ का फल तद्विषयक अथवा तदितर ग्रन्थ में अवश्य दिया रहता है। इससे लाभ यह रहा है कि सदियों पुरानी हमारी संस्कृति संरक्षित रही और देवाराधन से जुड़े रहकर लोग उत्तम संस्कार से सुवासित होते रहे।

आज हमारे यहाँ पश्चिमी हवा का खूब प्रभाव है, पर किसी कोने में ही सही, भक्ति अवश्य अवस्थित है। यह त्रिकालद्रष्टा महर्षियों की ही देन है।

हम चाहे किसी देवता को अपना इष्ट मान लें। यह मन के मानने की बात है— 'ऊधो, मन माने की बात।' पर, इसके पीछे भी कारण होता है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी इन चतुर्विध भक्तों में आर्त एवं अर्थार्थी जब किसी देवता-विशेष की शरण में जाकर सद्यः पूर्णमनोरथ हो जाते हैं तो उस देवता के प्रति उनकी अनुरक्ति सहज ही बढ़ जाती है। कभी-कभी किसी के निर्देशानुसार कार्य करके भी लोग पूर्णाभिलाष हो जाते हैं और फिर तो उस विधि, कर्तव्य को अंग बना लेते हैं।

हमारे यहाँ ग्रन्थों की संख्या अगणित है। लघुतम से बृहत्तम तक जितने ग्रन्थ हैं, उनमें पारगामिता भी अशक्य है। हाँ; जिन्हें अधिक ख्याति मिली, उन्हें अधिक लोगों ने अपनाया और मधुकरी वृत्तिवाले जिज्ञासु सर्वाधिक संकलन में लगे रहे।

ग्रन्थों की ख्याति का आधार भी फलश्रुति ही रही। सत्कर्मों का फल बतानेवाले ग्रन्थवाक्यों ने हमें दो तरह से खींचा; एक तो कृत्य से और दूसरे पाठ से। कृत्य का अर्थ शास्त्रविहित कर्म है। इसके अन्तर्गत जप, तप, योग, ध्यान, पूजा आदि कर्मकाण्डीय स्वरूप आते हैं। इनकी भी कई श्रेणियाँ हैं। गुणत्रय के आधार पर सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी हैं। सम्प्रदाय और लोकाचार आदि से भी हमारे कृत्य प्रभावित होते हैं। हम अपने काम्यकर्म से उस कृत्य में लगते हैं और ईश्वर की कृपा से मनोभिलषित पा गए तो यथावसर उसे अपनाए रखे और अन्य लोगों को भी सुझाव देते। ऐसे कृत्यों में व्रतकथाओं की भूमिका सर्वोपरि है।

कृत्य के अनन्तर पाठ की महत्ता आती है। पाठ सुनना और करना दोनों पुण्यप्रद हैं। श्रवण की महत्ता बतलाते हुए परम भागवत नारद जी ने कितनी अच्छी बात कही है, ध्यातव्य है—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद् यस्य लभ्यते॥

(भागवत-माहात्म्य : 6.76)

अर्थात्; हे तपस्वियो! मैं भगवान के गुण-चरित के श्रवण को सबसे श्रेष्ठ मानता है। क्योंकि भगवान के गुण-चरित श्रवण के प्रभाववश वैकुण्ठ में विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति सहज हो जाती है।

पाठ करना अभीष्टप्रद तो है ही, पर उत्तम रीति से किया गया पाठ ही प्रशंसित है। 'पाणिनिशिक्षा' में अधम तथा उत्तम पाठकों का सर्वमान्य विभाजन है। तद्विषयक श्लोकद्वय देखें—

गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥ (32-33)

महर्षि पाणिनि के अनुसार गीत-जैसा पढ़ना, शीघ्रता करना, सिर हिलाना, स्वयं लिखकर पढ़ना, अर्थज्ञान न होना तथा स्पष्ट उच्चारण न होना; ये छह अधम पाठकों के लक्षण हैं। माधुर्यपूर्ण, अर्थात् सुश्राव्य, अक्षरों की स्पष्ट अभिव्यक्ति, आवश्यकतानुसार सन्धि -विच्छेद, सुन्दर स्वर, धैर्य तथा लय के साथ पढ़ना; ये छह उत्तम पाठकों के लक्षण हैं।

अपार धार्मिक ग्रन्थों का अवलोक किया जाए तो प्रायः सब में किसी-न-किसी रूप से फलश्रुति स्थापित है। वेदों से लेकर अत्याधुनिक स्तोत्रों में भी इसकी सम्यक् प्रतिष्ठा दिखाई देती है। यदि केवल फलश्रुतियों का संचयन किया जाए तो अनेक महदाकार ग्रन्थ बन जाएँगे।

"सर्वदेवमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।" इस आर्ष वचन के आधार देवी उपासना सभी उपासनाओं की कुंजी है। इनके उपासक सहज ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्टय को प्राप्त कर लेते हैं। प्राचीन काल में तो ऐसा हुआ ही है, आज भी लोग कम लाभान्वित नहीं होते हैं। जिन्हें विश्वेश्वरी माता दुर्गा की कृपा प्राप्त हो गई, उनके लिए भोग और मोक्ष करामलक हो गए।

मूलतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आन्तरिक शक्तिस्वरूपा होने के कारण माता दुर्गा ही सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करती हैं। ये सम्पूर्ण संसार का एक मात्र आधार हैं—

आवासः सर्वभूतानां निष्ठा च परमा गतिः।

दुर्गोपनिषद् (देव्यथर्वशीर्ष) में तो देवी ने स्पष्ट ही कहा है कि सब कुछ मैं ही हूँ—

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च...।

देवीभागवत और दुर्गासप्तशती तो देव्युपासना के वरेण्य ग्रन्थ हैं। देवीभागवत देवीरहस्य का बृहत् संकलन है, पर मार्कंडेय पुराणांतर्गत विद्यमान 'दुर्गासप्तशती' की महत्ता ही कुछ और है। उसे किसी मानवतनधारी द्वारा सृष्ट नहीं माना गया है। विशालबुद्धि भगवान व्यास भले अन्य पुराणों के साथ-साथ मार्कंडेय पुराण के प्रणेता रहे हों, पर सप्तशतीभाग के नहीं। इसका कारण है कि 'भुवनेश्वरीसंहिता' के अनुसार जैसे वेद अनादि है, वैसे ही 'सप्तशती' भी है— **यथा वेदो ह्यनादिर्हि तद्वत्सप्तशती स्मृती।** सिर्फ व्यास जी ने इसे प्रकट किया है, इसलिए यह व्यासकृत है।

यदि व्यास की यह कृति होती तो वे इसके तत्त्व का चतुर्थांश ज्ञान ही कैसे रखते? 'मेरुतंत्र' में भगवती कहती हैं कि दुर्गासप्तशती' के रहस्य का पूर्ण ज्ञान केवल मुझे है और किसी को नहीं। विष्णु तीन हिस्सा ज्ञान रखते हैं और ब्रह्मा आधा। व्यास चौथाई तथा अन्य लोग करोड़वाँ हिस्सा—

सप्तशत्यास्तु सकलं तत्त्वं वेदम्यहमेव हि।
पादोनं श्रीहरिर्वेत्ति वेत्त्यर्धं तु प्रजापतिः॥
व्यासस्तुर्यांशकं वेत्ति कोट्यंशमितरे जनाः।

'दुर्गासप्तशती' में जो तीन चरित्र हैं, वे कथामात्र नहीं। हम इसके प्राबंधिक रूप को देखकर चरितकाव्य (चरितावली) मान लेते हैं, यह हमारी अल्पज्ञता है। वास्तव में मन्त्रमयी सप्तशती हम कोट्यंश ज्ञानियों से परे है। फिर भी; इसकी फलश्रुति से प्रभावित होकर हम इसका पाठ करते ही हैं और माता अपनी घोषणा के अनुसार हमें लाभान्वित करती ही रहती हैं।

भगवती दुर्गा ने सप्तशती के बारहवें अध्याय को फलश्रुति ही बना दिया है। ऐसे तो इसका क्रम ग्यारहवें अध्याय के सैंतीसवें श्लोक से ही चल रहा है, पर वरदा देवी ने लोककल्याण परायण अपने अवतारों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। संपूर्ण द्वादश अध्याय में देवी का भक्तवात्सल्य देखा जा सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये ज्ञानाज्ञान से भी की गई पूजा की प्रतीक्षा करनेवाली हैं— **जानताऽजानता वाऽपि ...।**

फलनिर्देशन में पद्मपुराण का प्रकृतिखंड भी द्रष्टव्य है। यहाँ ऐसा लगता है, मानो 'वह दो और यह ले जाओ' हो रहा है। इसके प्रवक्ता पुलस्त्य जी हैं और श्रोता भीष्म जी। 185 श्लोकों में निबद्ध यह देवीमाहात्म्य वाकई आश्चर्यकर है। उदाहरण के लिए इसके 131 वें श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक देवीमंदिर की नित्य सफाई करता है, वह बलवान होकर सभी प्रकार की संपत्तियों से युक्त हो जाता है—

यश्च देव्या गृहं नित्यं सम्मार्जयति भक्तितः।
स भवेद् बलवान् देवाः सर्वसम्पत्तिसंयुतः॥

इसी तरह देवीकवच, अर्गला, कीलक, रहस्य, दुर्गासहस्रनाम, दुर्गादकारादि सहस्रनाम, देवीगीता आदि में फलश्रुतियाँ हैं। फलों के प्रभाव के कारण ही देवी के पर्याय में भी वृद्धि हुई। उपासकों ने इन्हें जिस रूप में देखा, वैसा नामकरण भी कर दिया। उदाहरण के लिए इनकी फलबोधिका संज्ञाओं में विशेष ग्राह्य हैं— तुष्टि, तापहारिणी, दुष्टग्रहनिवारिणी, दुःखघ्नी, सुखदा, माध्वी, परमामृतसू, सुधा, सुधांशुनिलया, विद्येश्वरी, धृति, रामा, मनोरमा, श्यामा, सुंदरलोचना, विशालाक्षी, वागीश्वरी, मानदा, सद्गति, क्षेमकारी, दया, रति, वरदा, स्वाभाविकगुणा, गांभीर्यगुणभूषणा, शांता, रुचि, ऋद्धिहस्ता, सिद्धिहस्ता, जयवरप्रदा, अन्नपूर्णा, उत्तमा, पापघ्नी, बलवर्धिनी, पुत्रदा, पुत्रवत्सला, फलदात्री, भाग्यदा, तथा यज्ञसूत्रप्रदा। ये सभी आख्याएँ जगज्जननी के गुणों को उद्घाटित करती हैं। सबके साथ इतिहास जुड़ा हुआ है। दुर्गासप्तशती, बत्तीस

नाममाला, एक सौ आठ नाममाला, या अन्यत्र जितने भी नाम आए हैं, उनमें फलश्रुतिमूलक अवश्य हैं। जिस भक्त के पाप दूर हुए, उसने पापघ्नी कहा; जिसके दुःख दूर हुए, उसने दुःखघ्नी कहा; जिसे पुत्र प्राप्त हुए, उसने पुत्रदा कहा; इसी तरह भक्तों द्वारा दिए गए नामों से देवीनामों में वृद्धि होती गई। सप्तशती में तो देवी ने अपने को स्वयं वरदा कहा है—

वरदाहं सुरगणा वरं यन्मनसेच्छथ।
तं वृणुध्वं प्रयच्छामि जगतामुपकारकम्॥

(11-37)

वास्तव में देवी स्वयं फल हैं। जब मधु-कैटभ से पीड़ित ब्रह्मा ने इनकी स्तुति की तो देवी ने विष्णु को जागृत कर मारने की प्रेरणा दी। जब महिषासुर का उपद्रव बढ़ा तो इन्होंने उसे ससैन्य मार गिराया और देवताओं को परित्राण दिया। इसी तरह देवताओं की प्रार्थना पर शुंभ-निशुंभ का ससैन्य संहार किया। सुरथ को अभिलषित से भी अधिक वर दिया तथा समाधि को सर्वदुर्लभ ज्ञानदान कर कृतार्थ किया।

दुर्गा की आराधना कभी विफल नहीं होती। इसीलिए समस्त देवता, ग्रह, पितर, राक्षस, भूत-पिशाच इनकी आराधना के बल पर चलते हैं। सबने अपने आवास में भगवती को निवास दिया है। भगवान ब्रह्मा स्वयं बतलाते हैं कि भगवान शंकर हाथ में रुद्राक्ष लेकर मन्त्रशक्तिमयी शुभकारिणी दुर्गा की पूजा करते हैं, जिससे वे ऐश्वर्य एवं मोक्ष के उत्पादक, अथवा प्रदायक बने हैं। स्वयं (ब्रह्मा जी) रत्नमयी देवी की मूर्ति स्थापित कर सदा पूजा किया करते हैं, जिससे दुर्लभ ब्रह्मत्व को प्राप्त हैं। इसी प्रकार विष्णु इंद्रनीलमयी, कुबेर स्वर्णमयी, विश्वेदेव रौप्यमयी, वायु पित्तलमयी, वसुगण कांस्यमयी, अश्विनीकुमार मृण्मयी, वरुण स्फटिकमयी, अग्नि रत्नमयी, सूर्यताम्रमयी, चंद्रमा मुक्तामयी, सभी ग्रह प्रवालमयी, असुर कमलमयी, पितर त्रपुसीसमयी, पिशाच लौहमयी तथा भूतयोनि वाले वज्रलोहमयी दुर्गा की पूजा कर अपने-अपने पद पर सुखासीन हैं। एतद्विषयक श्लोक द्रष्टव्य हैं-

शम्भुः पूजयते देवीं मन्त्रशक्तिमयीं शुभाम्।
अक्षमालां करे न्यस्य तेनासौ विभवोद्भवः॥
दुर्गां रत्नमयीं देवाः पूजयामि सदा ह्यहम्।
तेन प्राप्तं मया चैव ब्रह्मत्वं च सुदुर्लभम्॥
इन्द्रनीलमयीं देवीं विष्णुः पूजयते सदा।
विष्णुत्वं प्राप्तवांस्तेन अद्भुतैकं सनातनम्॥
देवीं हेममयीं दुर्गां धनदोऽर्चयते सदा।
तेनासौ धनदो देवो धनेशत्वमवाप्तवान्॥
विश्वेदेवा महत्मानो रौप्यां देवीं मनोरमाम्।
यजन्ति विधिवत् तेन विश्वेदेवत्वमागताः॥
वायुः पूजयेद् भक्त्या देवीं पित्तलसंभवाम्।
वायुत्वं तेन सम्प्राप्तमनौपम्यगुणावहम्॥
वसवः कांस्यकां देवीं पूजयन्ति विधानतः।
प्राप्तास्तेन महात्मानो वसुत्वं तन्महोदयम्॥
अश्विनौ पार्थिवीं देवीं पूजयन्तौ विधानतः।
तेन तावश्विनौ देवौ स्वर्वैद्यौ सम्बभूवतुः॥
स्फाटिकीं शोभनां देवीं वरुणः पूजयेत्सदा।
वरुणत्वं च सम्प्राप्तं तेन चर्ध्या समन्वितम्॥
देवीं रत्नमयीं पुण्यामग्निर्यजति भावितः।
अग्नित्वं प्राप्तवांस्तेन तेजोरूपसमन्वितम्॥
ताम्रां देवीं सदा कालं भक्त्या देवो दिवाकरः।
अर्चते तेन सम्प्राप्तं सूर्यत्वं शुभमुत्तमम्॥
मुक्ताफलमयीं देवीं सोमः पूजयते सदा।
तेन सोमेन सम्प्राप्तं सोमत्वं सततोज्ज्वलम्॥
प्रवालकमयीं देवीं पूजयन्ति विधानतः।
तेन ते ग्रहतां प्राप्ता ग्रहाः सूर्यादयोऽनिशम्॥
वारिजां शोभनां देवीं पूजयन्त्यसुरोत्तमाः।
वारिजाश्च महात्मानस्तेन तेऽमितविक्रमाः॥
त्रपुसीसमयीं देवीं यजन्ते पितरः सदा।
मातृत्वं प्राप्य ताः सर्वाः सम्पूज्याश्च जगत्त्रये॥

तथा लोहमयीं देवीं पिशाचाः पूजयन्ति ताम्।
तेन सिद्धिबलोपेताः प्रयान्ति परमां पदम्॥
त्रैलोहिणीं सदा देवीं यजन्ते गुह्यकादयः।
तेन भोगबलोपेताः प्रयान्तीश्वरमन्दिरम्॥
वज्रलोहमयीं देवीं यजन्ते भूतयोनयः।
तेन मुक्ताः सुरत्वं च लभन्ते सततं दिवि॥

फलाकांक्षी हम मानव भी यथाशक्ति देव्याराधन करते हैं। यह प्रेरणा देवताओं, ऋषियों, विद्वानों और पूर्वजों से ही प्राप्त है। भुवनेश्वरी की चाहे जिस रूप में पूजा की जाए, ये भक्तों की त्रुटियों एवं न्यूनताओं पर न विचार कर सदा माता की तरह हितकारिणी बनी रहती हैं—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"
"यं यं चिन्तयते कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।"

इससे बढ़कर और फल क्या हो सकता है, या इससे उत्कृष्ट मातृकृपा क्या हो सकती है?

***

"फलश्रुति से ईश्वर की ओर अग्रसर होता मानव" (पृष्ठ 30 का शेषांश....)

लिंग पुराण में शिव सहस्रनाम के दो प्रकार है। इन सहस्रनामों के पाठानुष्ठान से कहीं बहुत अच्छी वर्षा होने के लाभ भी महिमा मंडित है। लिंग पुराण में भगवान विष्णु, ब्रह्मा जी से कहते हैं मेरे इस सहस्र नाम के पाठ का फल सहस्र अश्वमेध यज्ञ हो। तब ब्रह्माजी प्रत्युत्तर में कहते हैं ऐसा ही हो।

भगवान सूर्य के सहस्रनाम की फलश्रुति इस प्रकार वर्णित है विकट ग्रहों से प्राप्त पीड़ा का नाश। जिसे पुत्र नहीं उसे पुत्र की प्राप्ति, विद्यार्थी को विद्या और राजा राज्य लाभ प्राप्त करता है। धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष को साधक प्राप्त कर लेता है। स्कंद पुराण, भविष्य पुराण और सांब पुराण के साथ महाकाल संहिता में अलग अलग सूर्य सहस्रनाम दिए हैं। श्रीमद्देवी भागवत पुराण में भगवान ब्रह्मा द्वारा कथित और भगवान विष्णु द्वारा श्रवणित गायत्री सहस्र नाम अ आ इ ई....इत्यादि व्यंजन के क्रम में है। फलश्रुति में ब्रह्मा जी कहते हैं जहाँ गायत्री सहस्र नाम है वहाँ निर्भयता और अचल लक्ष्मी रहती है। इसके द्वारा ब्रह्महत्या, मदिरापान,चोरी, अग्राह्य भोजन अर्थात मांस भक्षण इत्यादि पापों से साधक छूट जाता है। गायत्री सहस्र नाम का दूसरा प्रकार रूद्रयामल महातंत्र में प्राप्त होता है। ब्रह्म पुराण में विष्णु, ब्रह्मा मध्य संवाद में भक्ति भाव से लक्ष्मी सहस्र नाम के पाठ से सभी प्रकार के धन धान्य की अनंत प्राप्ति होती हैं।

सनत कुमार संहिता में एक और अन्य लक्ष्मी सहस्र नाम में लक्ष्मी महिमा गाई गई है। ज्ञान, विद्या, साहित्य, संगीत की महादेवी सरस्वती के गरिमा मय सहस्रनाम मार्कंडेय पुराण में उल्लेखित है लेकिन अति महत्वपूर्ण है तांत्रोक्त सरस्वती सहस्र नाम की फल श्रुति में भगवान शिव, देवी पार्वती से वर्णन करते हैं, इस सरस्वती सहस्र नाम की महिमा करोड़ों वर्षों में भी नहीं गाई जा सकती जो अपने आप में विलक्षण तथ्य है।

विश्वमाता पार्वती या दुर्गा के तो अनेक सहस्रनाम प्राप्त होते हैं ये पौराणिक भी है और तांत्रिक भी। देवी पुराण में को श्रीमद्देवीय भागवत पुराण से भिन्न है में देवी दुर्गा के दिव्य सहस्र नाम है। इनके अतिरिक्त दुर्गा सहस्र नाम, ललिता सहस्रनाम, त्रिपुर सुंदरी सहस्र नाम, काली सहस्रनाम के साथ शक्ति, गुह्य काली, श्मशान कालिका, बाला त्रिपुर सुन्दरी आदि के भी पवित्र सहस्र नाम उपलब्ध है। विस्तार भय से उनकी अनंत फल श्रुति अभी वर्णन करना का समय नहीं है। अगली बार ही संभव हो पाएगा परंतु स्तोत्र, स्तुतियों के पाठ से लौकिक उन्नति के साथ अवर्णनीय अध्यात्मिक उन्नति का वर्णन करना असंभव है।

***

फलश्रुति : प्रवृत्ति एवं निवृत्ति धर्म के सन्दर्भ में

डा. सुदर्शन श्रीनिवास शाण्डिल्य
व्याकरणाध्यापक, श्रीराम संस्कृत महाविद्यालय, सरौती, अरवल। पटना आवास- ज्योतिषभवन, शिवनगर कालोनी, मार्गसंख्या 10, बेऊर जेल के पीछे, पटना।

इस आलेख में कहा गया है कि दो प्रकार के वैदिक कर्म होते हैं- सुखप्राप्ति के लिए तथा निःश्रेयस की सिद्धि के लिए। सुखप्राप्ति के लिए अर्थात् धन, जन, मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा आदि सांसारिक भोग के लिए जो कर्म हैं, वे काम्य कहलाते हैं तथा मोक्षप्राप्ति के लिए सहायक जो कर्म हैं वे नैःश्रेयसिक कहलाते हैं। 'मन्त्रमहौदधि' का भी कथन है कि हमें शुभ कार्य के लिए भी काम्यकर्म नहीं करना चाहिए, अतः इस सिद्धान्त को यदि हम मान लें तो सारी फलश्रुतियाँ व्यर्थ हो जायेगी। अतः लेखक ने स्पष्ट किया है कि "प्रवृत्त धर्म भी वेद तात्पर्य की परिधि में सविधि सम्पन्न होना चाहिए। सविधि सम्पन्न होने से प्रवृत्त धर्म भी निवृत्त धर्म का संचारक हो जाता है।" इस प्रकार यदि हम काम्यकर्म में भी विधि एवं निषेध का पालन करते हैं तो वह काम्य भी करने योग्य हो जाता है और वह निवृत्त धर्म का संचारक हो जाता है। उदाहरणार्थ मारण, मोहन उच्चाटनादि काम्यकर्म हैं, उनका वर्णन किया गया है, किन्तु अन्य स्थलों पर निषेध भी किया गया है अतः यदि उस निषेध का पलन करते हुए हम ऐसे कार्यों से विरत होकर दूसरे की भलाई के लिए काम्य कर्म भी फलश्रुति के आधार पर करते हैं तो वह निवृत्त धर्म होगा। अतः फलश्रुतियाँ विधि-निषेधपरक हैं।

भारतीय संस्कृति जिन चार दृढ़ स्तम्भों पर खड़ी है, वे स्तम्भ चारों पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष हैं। इनमें धर्मतत्त्व प्रथम है। ज्ञान की शक्ति तो पशुओं में भी होती है, वह भी अपने परिवेश को समझ लेता है, कौन अपना है, कौन पराया है इसे जान जाता है। किन्तु, सृष्टि में विद्या की शक्ति का स्वाभाविक रूप से केवल मानव सत्पात्र है। अतः मानव स्वतः विचारक और साधक है। इस विचार तथा साधना के बिना कोई भी मानव रह ही नहीं सकता। कर्म एवं स्वभाव के बीच भेद से विचार और साधक में भेद होगा परन्तु विचारपूर्वक साधकता मानव मात्र में है। साध्य में विभिन्नता हो सकती है।

इस विभिन्नता के मुख्य दो आधार हैं– संसार और ईश्वर। इन दोनों में स्वभावतः ऐन्द्रिक रसप्रियता होने से संसार में रहते हुए रसप्राप्ति साधकता मानव मात्र से अग्रसर प्रतिबद्ध एवं संचरित है। अब यहीं पर संसार की क्षणभंगुरता से सङ्गभङ्ग के कारण मानव विभिन्न द्वन्द्वों से पीड़ित, आहत, व्यक्ति खण्डित हो रहा है। एतदर्थ नित्य संचार की अपेक्षा है, जिसका सर्वाश्रय धर्म है। धर्म ने ही संख्यातीत अण्ड-पिण्ड-ब्रह्माण्ड को धारण कर रखा है, जिसके कारण अनन्त ब्रह्माण्ड अस्तित्ववान् है। इसी धर्म से मानव मात्र का किसी न किसी रूप में अवश्य सम्बन्ध बना रहे, एतदर्थ वैदिक ज्ञान

परम्परा में महान् विशद प्रयास किया गया है।

मनुस्मृति, 12.87 में कर्म के दो भेद किए गये हैं– प्रवृत्ति कर्म एवं निवृत्ति कर्म।

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥

यद्यपि ये दोनों कर्म कहे गये हैं और कर्म में क्रिया होती है तथा क्रिया का फल होता है। यदि फल न रहे तो हम उसे क्रिया नहीं कहेंगे। जैसे वह विद्यालय जाता है, यहाँ गमन रूप क्रिया का फल यदि न मिले तो हम दो स्थितियों की कल्पना कर सकते है कि या तो वह व्यक्ति गमनरूप क्रिया से वंचित रहा, अर्थात् उसने क्रिया की ही नहीं या उसका लक्ष्य समुचित नहीं रहा– वह विद्यालय जाने के बजाये मदिरालय पहुँच गया और विद्यालय पहुँचा ही नहीं। इस प्रकार कर्म में ही क्रिया और लक्ष्य दोनों का अन्तर्भाव होता है। इन्हीं दोनों में से लक्ष्य को हम धर्म कहते हैं। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि कर्म क्रिया एवं धर्म का समुच्चय है। इसी समुच्चय-सम्बन्ध से कर्म भी अपनी प्रयोजकता में धर्म कहलाने लगता है।

मनुस्मृति की उपर्युक्त पंक्तियों में कर्म की व्याख्या इसी कर्मप्रयोजकतावच्छिन्न धर्म के रूप में किया गया है। प्रथम स्वर्गादि सुखसाधक संसार में प्रवृत्ति कराने वाला फलश्रुतिधारक-ज्योतिष्टोमादि रूप धर्मों को प्रवृत्त धर्म कहा गया है। इस इस समस्त प्रवृत्त धर्मों के संचार में सांसारिक कामनाओं के पूर्त्यर्थ फलश्रुतियों का संचार हुआ है।

दूसरा है– संसारनिवृत्तिपूर्वक निःश्रेयस (मुक्ति) साधक निवृत्त धर्म– इष्टदेवोपासनादि है।

फलश्रुतियों के संसार में विभिन्न यन्त्र, मन्त्र तन्त्रों का महत् विशाल संसार है। फलश्रुति के विषय में युक्त अयुक्त सम्बद्ध-असम्बद्ध अनेक विचारों का भेदमूलक अस्तित्व बना हुआ है। एक तर्क यह है कि वस्तुतः फलश्रुति यथार्थ सत्य कर्मफल नहीं है, जैसे किसी व्यक्ति को यह कहा गया कि तुम प्रतिदिन दौड़ोगे तो तो तुम्हें प्रतिदिन सौ रुपये मिलेंगे। वस्तुतः दौड़ने का फल परिणाम मात्र सौ रुपया तो नहीं है, स्वास्थ्य-लाभ या शारीरिक लाभ ही धावन क्रिया का फल होगा। लोभवशवर्तिता के कारण धावनाभ्यास के लिए स्वतः उसकी प्रवृत्ति धावन निरन्तरता में हो जायेगी। इसी तरह प्रवृत्त धर्मों के सम्पादन से मानव में धर्मशक्ति संचार की अर्हता का स्थापन होगा। पुनः शनैः-शनैः प्रवृत्त धर्म से मानव निवृत्त धर्मोन्मुख होकर निःश्रेयस का साधक बन जायेगा।

मनुस्मृति, 2.2 में कहा गया है–

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

फलाभिलाष रूप कामात्मकता समुचित नहीं है, क्योंकि वह कर्मबन्धन का कारण है। परन्तु संसार में बिना कामना प्रवृत्ति भी संभव नहीं है। इसका तात्पर्य है कि सकामता उपयुक्त नहीं है, किन्तु धर्मेच्छा का नैरन्तर्य बना रहे, दिससे कभी मानव धर्मरहित और धर्मविमुख न हो। एतदर्थ ही प्रवृत्त धर्मों का विशाल संसार है। प्रवृत्त धर्मों के संचारक ग्रन्थों में अशुभ उद्देश्यों यथा अभिचारादि (मारण, मोहन, उच्चाटनादि) का भी विचार विधान अग्रसर प्रतिबद्ध है। परन्तु इसमें अत्यन्तसावधान रहने की आवश्यकता है। अन्यथा साधक की ही हानि अवश्यम्भावी है। एतदर्थ अशुभ काम्य कर्मों का सम्पादन का शास्त्रों में निषेध किया गयाहै।

तन्त्रशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मन्त्रमहौदधि' के 25वें तरङ्ग का स्पष्ट कथन है–

काम्यं कर्म प्रकर्तव्यमन्यथाभिभवो भवेत्।
शुभं वाप्यशुभं वापि काम्यं कर्म करोति यः॥73॥
तस्यारित्वं व्रजेन्मन्त्रो न तस्मात्तत्परो भवेत्।

शुभ भी काम्य कर्म न करे, इसका तात्पर्य है कि विशेष भौतिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए शुभकर्म भी न करे। सात्त्विक उपासना अवश्य करनी चाहिए। उस अन्तर्यामी से क्या प्रच्छन्न है? मानव जीवन अनन्त कर्मफल से बना हुआ है, क्या मिलना है, क्या मिलेगा यह कर्माधीन है। सात्त्विक उपासना से कृपा का संचार होता है। कर्म से इष्टकृपा श्रेष्ठ है। पूर्ण रूप शरणापन्न होने की आवश्यकता है।

अभिचारादि अशुभ कर्म तो कदापि न करें। इससे मन्त्रदेव पर अनावश्यक दुष्प्रेरणा का दुष्प्रभाव पड़ता है। फलतः वही मन्त्रसाधक के लिए शत्रुस्वरूप हो जाता है।

एतदर्थ निष्काम अर्थात् जिस उपासना का उद्देश्य मात्र इष्टदेव की प्रसन्नता, कृपा हो, तो इस सात्त्विक उपासना से किसी प्रकार के भय, हानि की सम्भावना नहीं रहती है तथा इष्टदेव की कृपा से समस्त मनोकामना भी पूर्ण हो जाती है। वह भी कर्मफल समुचितता में ही सम्भव है।

यह गम्भीर विशद विवेच्य विषय है वेदज्ञान के प्रसार का सर्वसार तात्पर्य है। यही है कि किसी भी रूप में प्रवृत्त धर्म या निवृत्त धर्म से मानव जीवन का अवश्य सम्बन्ध होना चाहिए।

प्रवृत्त धर्म भी वेद तात्पर्य की परिधि में सविधि सम्पन्न होना चाहिए। सविधि सम्पन्न होने से प्रवृत्त धर्म भी निवृत्त धर्म का संचारक हो जाता है। जैसे

एको मुनिः कुम्भकुशाग्रहस्त
आम्रस्य मूले सलिलं ददाति।
आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ता
एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा॥

-अग्निपुराणम्/अध्यायः 115. 40

कुश हाथ में लेकर घट के जल से कोई मुनि यदि वृक्षों को जल देता है तो पितर भी तृप्त हो जाते है और वृक्षों का सेचन भी हो जाता है अतः एक साथ होनों कर्म हो जाते हैं। यहाँ हमें ध्यान रखना होगा कि इस उत्तम स्थित का लाभ लेने के लिए घट से सेचन करते समय कुश हाथ में रख लेना होगा। अतः कर्मफल विधि पर निर्भर करता है तथा विधि-कथन के उद्देश्य से फलश्रुतियों का वर्णन हमारे सनातन ग्रन्थों में हुआ है।

***

"मीमांसा-दर्शन में अर्थवाद" का शेषांश पृ. 15 से जारी....

'मूकस्वादनवत्' (—नारद-स्मृति : 52) का आनन्द ले सकते हैं। तात्पर्य है जितने भी विधि या निर्देश यज्ञ, कर्म, पूजन आदि से सम्बन्धित हैं, जो यह कहते हैं कि इसे करने से इसका अमुक फल मिलेगा, लेकिन इनका अन्तर्निहित तथ्य यही है कि मनुष्य की बुद्धि भगवान् में ही लगी रहे। कहा गया है—'तू सत्कर्म करता जा, फलभोग ईश्वर पर छोड़ दे।' जिससे हम सुख-दुःख, भोग आदि जैसे दृश्य-जगत् के प्रपञ्च से दूर होकर इसका आत्यन्तिक विलय कर सकें। अध्यात्म के दार्शनिकों के अनुसार दृश्य-जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश ही मोक्ष है— **प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः।**

***

फलश्रुति की व्यापक भूमिका

श्रीमती रंजू मिश्रा
द्वारा, श्री बी.के. झा, प्लॉट सं. 270, महामना पुरी कालोनी, बी.एच. यू., वाराणसी

इस आलेख में फलश्रुति की व्यापकता का विवेचन किया गया है। यहाँ सिद्ध किया गया है कि न केवल उसासना के सन्दर्भ में अपितु भारतीय परम्परा के जो भी शास्त्र हैं उनमें विधि-निषेध के कथन के लिए फलश्रुतियाँ कही गयी है। जब हम परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् कहते हैं तो परोपकार की फलश्रुति हमें उसके लिए प्रेरित कर एक दिशा निर्देश देती है। यह भारतीय परम्परा में कथन की विशिष्ट शैली है, जो हमें न केवल देवोपासना के परिप्रेक्ष्य में मिलता है बल्कि आयुर्वेद तथा ज्योतिष जैसे विषयों में भी मिलता है। यहाँ देवोपासना भी इस अर्थ में पृथक् नहीं है, उसकी फलश्रुतियों में उक्त विधि-निषेध कथन आयुर्वेद की दृष्टि से हमें लाभ पहुँचाने तथा हानि से रोकने के लिए है। आलेख में इस बात की हमें झलक मिलती है कि हम भारतीय परम्परा की शास्त्रीय धाराओं को समानान्तर नहीं कह सकते हैं, वे एक-दूसरे से इतनी प्रगाढ़ रूप से जुड़ी हुई हैं कि हमें फलश्रुतियों का विवेचन एक व्यापक परिदृश्य में करना चाहिए और इस प्रकार, शास्त्रों में उक्त फलश्रुतियाँ हमारे निर्देशक सिद्ध होती हैं।

मानव जीवन में जितने भी धार्मिक कर्म-उपकर्म होते हैं उसे करने के पीछे हमारा एक उद्देश्य होता है, कुछ न कुछ प्राप्ति की कामना होती है, या फिर कामनापूर्ति के उपरान्त ईश्वर के प्रति आभार का प्रकटीकरण होता है। धार्मिक कर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के लिए भी हो सकते हैं। यहाँ तक कि अनासक्त कर्म में भी कहीं न कहीं सूक्ष्म रूप से उसमें निहित फल प्राप्ति का अंकुर, बीज के कठोर आवरण में बैठा ही रहता है यह भले ही निर्वाण प्राप्ति के लिए ही क्यों न हो।

यह अनायास भी हो सकता है, जैसे सुखप्राप्ति की स्वतःप्रेरित जीवचेष्टा। यह कर्म नित्य या नैमित्तिक भी हो सकता है। फल की कामना भौतिकता की प्राप्ति से लेकर ईश्वर की प्राप्ति तक के लिए होती है। गुरु और क्षेत्रीय परम्परा के अनुसार से इसका आश्रय भिन्न-भिन्न होता है। हमारे सांसारिक ऐषणाओं, आर्तताओं के कारण हमें उसे पाने के लिए उपायों को खोजना पड़ता है। जहाँ मनुष्य स्वयं को लाचार पाता है, वहाँ उसे एक मात्र ईश्वर की आराधना का मार्ग ही दिखाई देता है, क्योंकि इन सभी में फलप्राप्ति की धारणा स्थापित की गयी है। यह हमारे संस्कार में रचाया-पचाया गया है।

सभी धर्मों में ये धारणाएँ स्वतः ही पलती रहती है लेकिन सनातन धर्म तो फलश्रुति का अगाध सिंधु है, देवकर्म की तो बात क्या, पितृकर्म का भी एक-एक उपक्रमों को फलप्रदाता बताया गया है। विशेष प्रयोजन

"कर्म-सिद्धान्त कहता है कि मात्र संचित कर्म ही भाग्य और दुर्भाग्य में परिवर्तित होता है। यह एक जनम का हिसाब किताब नहीं होता, भले हमें पूर्वजन्म की बातें याद न हो परन्तु फल यह उसी का है। अच्छे कर्मो का घनत्व जब गहन रूपसे संगठित होता है तो वह ईश्वरत्व को प्राप्त करता है वहीं बुरे कर्म जब घनीभूत होता है तब वह किसी दुराचारी दानव प्रवृत्ति को जन्म देती है।"

से किया गया अतिरिक्त वैयक्तिक फल की तो बात क्या, लोकाचार की परम्पराओं का निर्वहन भी फलदायी ही माना जाता है।

यदि हम फूलों के पास जाते हैं तो सुगन्ध से स्वतः मन और प्राण सुवासित हो उठते है, जिसका सकारात्मक प्रभाव हमारे ग्रन्थियों से स्वस्थ पदार्थ स्राव को उत्प्रेरित करता है। सभी धर्मग्रन्थों का यही स्थायी भाव होता है कि इसे विहित विधि के अनुसार करने से अमुक-अमुक फल मिलता है। इस फलाफल में अच्छे और बुरे कर्मो की बातें भी शास्त्रोक्त ही है, और लोक-संस्कृति में रच-बस चुकी हैं। लौकिक फलप्राप्ति का आधार स्रोत पौराणिक आख्यानों से निकलकर आता है। हमारे जितने मी मन्त्र, श्लोक, स्तोत्र हैं, वह अन्ततः फलकथन के साथ ही समाप्त होते हैं। व्रत, त्योहार, पर्व, स्नान सभी के लिए फल का निरूपण है, यहाँ तक कि लोकपरंपराओं के निर्वाह भी अन्ततः वहीं जुड़ जाता है। सांसारिक कर्तव्यों का पालन भी इससे वंचित नही है।

जितने भी देवी-देवता हैं वे भी किसी विशेष फलप्रप्ति के अधिष्ठाता माने जाते हैं। उनकी आराधना से वह फल प्राप्त होता है ऐसी मान्यता है, जैसे विघ्न-बाधा और शुभकृत के लिए गणेशजी, सौभाग्य के लिए गौरी, भाग्य के लिए और सन्तान के लिए षष्ठी, विद्या के लिए देवी सरस्वती, धन के लिए देवी लक्ष्मी। ऐसे ही विविध प्रकार के देवता की आराधना से किसी न किसी विशेष फल की बात शास्त्रीय है। यज्ञ-अनुष्ठानों के द्वारा भी इसे प्राप्त करने की बातें पुराणों में भरी पड़ी है।

चूँकि हमारा प्रत्येक विहित कर्मों का स्रोत वेद है। ये सभी धर्म के मार्ग हैं उन पर चलना ही हमारे कर्तव्यों मे सम्मिलित है। स्थानभेद के अनुसार कुछ परिवर्तन के साथ कुछ मूल धर्मकर्म भी लगभग एक ही है। सभी क्षेत्रों मे कुछ अलग-अलग व्रत-त्योहार परम्पराओं का प्रचलन भी है, लेकिन फलाफल एक है। फलाफल एकांगी नही होते हैं; बल्कि अच्छा और बुरा दोनों की बात भी कही जाती।

कुछ विहित कर्म और कर्तव्यों को नहीं करने से अशुभ फलप्राप्ति की बातें भी धर्मशास्त्रों में उल्लिखित है। पौराणिक आख्यान हमें उस प्राप्य को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है और उनके लिए कई मार्गों को निर्देशित करता है और हम अपने सामर्थ के हिसाब से उस मार्ग पर चल पड़ते हैं। "आस्था ही फलित होती है", "धर्म में तर्क नहीं होता",ऐसी बातें भी कही जाती है। धर्मो रक्षति रक्षितः। कहावतें भी बनी है

धर्म करते हुए यदि हानि हो तो भी उस पथ को नहीं छोड़ने की बात कही जाती है। यदि किसी प्रयास से फल की प्राप्ति नहीं होती है, तो उसे हम प्रारब्ध के कर्मो का लेखा-जोखा पर लाकर रख देते हैं, और इससे तुष्ट होना पड़ता है। कर्म सिद्धांत कहता है कि मात्र संचित कर्म ही भाग्य और दुर्भाग्य में परिवर्तित होता है। यह एक जनम का हिसाब किताब नहीं होता, भले हमें पूर्वजन्म की बातें याद न हो परंतु फल यह उसी का है। अच्छे कर्मो का घनत्व जब गहन रूपसे संगठित होता है तो वह ईश्वरत्व को प्राप्त करता है वहीं बुरे कर्म जब घनीभूत होता है तब वह किसी दुराचारी दानव प्रवृत्ति

को जन्म देती है। माँ, बाप, गुरुजन हमेशा ही बच्चों के बुरे कर्मो से रोकते हैं, हालाँकि वह जो भोग लेकर आया है, और जिसे कष्ट देने के लिए आया है उस दोनों को निमित्त चाहे जो हो, भोगना ही है, तब भी हमारे शास्त्र-मार्गीय अभिभावक उसे घनीभूत होने से बचाते रहते है

कबीर ने कहा है

साग पात जो खात है ताकी काढी खाल
जो नर बकरी खात है ताकी कौन हवाल॥

इसको कर्म-सिद्धान्त से भी माने तो फलश्रुति का कथन ही साबित करता है, परन्तु कर्म क्या मात्र ईश्वर का पूजन या पारम्परिक धर्म का पालन ही हो सकता है, यह तो वेदव्यास के पौराणिक निचोड़ का कि **"परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्"** से भी सहज संभव है! फिर वेदविहित कर्म या धर्म रूपी संविधान पर चलना कितना समीचीन है।

जब बात यहाँ तक आती है तब हमें आयुर्वेद और ज्योतिषीय और योग-सिद्धान्तों का सहारा लेना पड़ता है। वेदोक्त आचार से उत्पन्न विचार का फलाफल ही आयुर्वेद और ज्योतिष के व्याख्याओं का मूल मर्म है। वेद के प्राण हैं ये दो-तीन शास्त्र जिनके कारण वेद अपने उद्देश्य को प्राप्त करता है। वेद को अपनाने के पीछे उसके उद्देश्य का ज्ञान भी वेदाध्ययन से ही अर्जित होता है। वेदोचित आचरण, आहार-विहार अन्ततःमनुष्य के लिए ही कल्याणकारी है, इस गूढज्ञान की गुत्थी जो सुलझा लेता है, उसके लिए ईश्वरत्व का भेद पाना सहज हो जाता है। धर्म-कर्म के माध्यम से वेद ने हमारे लिए एक ऐसा सुगमपथ का निर्माण कर दिया है जिस पर चलकर वह अपने शारीरिक मानसिक स्वस्थता को प्राप्त करता है। धर्म-कर्म का मूल तथ्य यही है जिसे गतिशील रखने के लिए पाप और पुण्य रुपी दो पहिए पर लगा दिए। इसे समझने के लिए शरीर के त्रिगुण और त्रिदोष के महत्त्व को समझना आवश्यक हो जाता है।

इस लोक में जितने भी देहधारी है उन सबमें त्रिगुण के असंतुलन से त्रिदोष उत्पन्न होता है। जितनी भी वनस्पतियाँ हैं, उन्नमें से प्रत्येक किसी एक गुण का वाहक होता है। त्रिदोष के असन्तुलन से मनुष्य कष्ट पाता है। यदि त्रिदोष का शमन हो तो त्रिगुण संतुलित होकर त्रिशक्ति को सहजता से हासिल कर लेता है। यह संसार तीन गुण, तीन प्रवृति, और त्रिशक्ति के बीच फँसा हुआ है, जिसको हमारी वेदमाता की शरण ही सुलझा पाता है।

मनुष्य जन्म से ही तीन गुण, तीन दोष में से किसी न किसी एक से प्रभावित रहता है। या आयुर्वेद की भाषा मे किसी एक के प्रति सुग्राही होना कह सकते हैं यूँ कहें जीवरूप में आने पर तो यह सहज सांसारिक लगता है, परन्तु गूढता से दृष्टि डाले तो इसका कारण भी वंशानुगत या प्रारब्ध की अदृश्य कड़ी ही दिखती है। किसी एक गुण या दोष का अधिक होना मनुष्य को जीवन भर कष्ट देता है, यह कष्ट शारीरिक मानसिक दोनो के लिए समान रूप से कहा गया है। इससे उबारने के लिए ही इतने सारे तन्त्र बने हुए हैं। सनातन धर्म में तन-मन से स्वस्थ मनुष्य की परिकल्पना की गयी है। स्वस्थ तन मन के लोग ही सन्तति को अपना सुयोग्य वाहक बना सकता है, जो उसका दायित्व है।स्वस्थ तन मन से मनुष्य सदाचारी होता है, जिससे समाज सुचारु रुप से चलता है और अन्ततः वह अपने परम लक्ष्य को पाता है। इसमें जहाँ कहीं भी कमी आने की संभावना होती है वहाँ वेदमाता प्रकृति का सहारा लेती हैं जिसके पास सबकुछ का निदान है। जितने भी देवी देवता हैं वह किसी एक गुण के प्रतिनिधि हैं,जितना भी वनस्पति है वह किसी एक या दो दोषों का शमन करता है। जब मनुष्य किसी कमी के कारण से दुखी होता है तो हमारे धर्मग्रन्थ ज्योतिष और आयुर्वेद के माध्यम से उसके उस पदार्थ के और उस देव की आराधना का निर्देश

देता है। उस विधान को पूरा करने के लिए मनुष्य उस पदार्थ के संपर्क में जाता है,उस निमित्त देवों की अराधना करता है,जो अपरोक्ष रूप से योग सदृश्य आंशिक या विशेष रूप से फलित होता है। सभी देवताओं में उपस्थित घनीभूत तात्त्विकता गहन शोध को जन्म देती है। किसी देवता को बेलपत्र चढता है तो किसी को तुलसी तो किसी को दुर्वा, किसी को अक्षत तो किसी को तिल, जौ। किसी को अड़हूल तो किसी को कनेर। यह सभी फूलपत्र उस त्रिगुण त्रिदोष या त्रिशक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। यह वेद का सहस्राक्ष और सहस्रपाद है। इतना समृद्ध कि उसे कोई मनुष्य बखाना नही सकता, यह सब पहले से ही वेद में व्याख्यातित है, भले ही हम मात्र लकीर के फकीर बनकर अपने जीवन पथ को पूरा करते हैं। एक एक मनुष्यों की एक एक कुल का कुंडली रखता है और उसे उचित सलाह कौलिक या परम्परा के सिद्ध शोधित उपायों को उसके कर्म में विहित किया गया है।हम नहीं समझ पाते कि हममे किस तत्त्व की कमी-बेसी है लेकिन ज्योतिष और आयुर्वेद का विज्ञान समझ जाता है।वह हमें उस हिसाब से कर्म देता है जो योगरुप मे फलित होता है। किसी को पितौझिया के मनकों का जाप देता है तो किसी को कमल गट्टा तो किसी के लिए रुद्राक्ष। अंगुली के विशेष भाग पर जब इसका अनवरत जाप होता है, तो उस गुण दोष का परिष्कार होता है। कुछ फूल जैसे कमल सभी देवों के लिए विहित होना उसके उस गुण को दर्शाता है, जिसका पोषण सबोंके लिए वांछनीय है। यहाँ तक कि पूजा में माल्यार्पण या मनुष्य के सम्मान के लिए पुष्पमाला की अगर शास्त्रीय नियम देखें तो चकित रह जाएंगे।

श्रीवकं मडुवं चैव नीलोत्पलासवत्सकौ
कुब्जकं पाटलं चैव श्री खंडं च तथैव च
नात्ययुष्णां न च वा शीतं सर्वदोषनिवारणम्
निर्मलं नेत्र रोगघ्नं वर्षाकाले प्रधारयेत्॥

प्रत्येक ऋतु के लिए अलग अलग पुष्पमाल्यों का फल कथन कहा गया है,लेकिन मनुष्य की प्रवृत्ति उस पर आरुढ नहीं हो पाता और उसके लाभ से वंचित हो जाता ऐ।विशेष परिस्थिति के लिए बने तुष्टि वचन "अभावे शालिचूर्णं वा" या "यथाशक्ति तथा भक्ति" ही स्थायी मान बन बैठता है।

यदि गहराई से कोई ज्ञानीजन दृष्टि डाले तो हमारा उठना बैठना खाना-पीना सबके लिए जो एक आचरण विधान किया गया है वह हमारे लिए ही आरोग्यपथ है। ऋतुविशेष का स्नान, व्रत उसके लिए बने वैदिक विधान का मर्म भी यही है।

उदाहरण स्वरुप यमदंष्ट्रा काल की यदि बात करें तो देखते हैं कि वर्षाऋतु में जो पित्त संचयन होता है और वह शरद में प्रकोप करता है। इस काल की जितनी भी देवकर्म है, व्रतोपासना है वह पित्तशमन का उपाय है। सभी कर्म मे स्नान और जलाशय की उपयोगिता है।पित्त आग्नि है, उसमे ताप होता है उसका शमन जल से ही होगा। उन सभी वनस्पतियों का जो उसके लिए विहित है वह पित्तशामक है। चौठी चान का भेंट फूल हो या जियुतिया का झुंगनी, या छठ में चौबिस अड़तीस घंटे निराजल शरीर को छाती तक जल के संम्पर्क में रखना। जिसका फलश्रुति संतान के निमित्त कहा जाता है। ध्यातव्य है कि पित्त की अधिकता ही बांझपन का कारण है। शरीर के धर्म के हिसाब से आसन का विधान है। किसी देवता का वाहन या आसन सभी कुछ एक उसके गुण धर्म को संकेतित करता है। वेद हमारी माता हैं, कभी भी अनहित नहीं कर सकती। हम उनके बच्चे हैं। हमें स्वस्थ बनाकर हमारी चेतना को उर्धोन्मुखी बनाना उनका कर्तव्य धर्म है। इसलिए फलश्रुति की प्ररोचना का सहारा लेकर भी वह हमें पालती हैं।

***

सीता स्तुति

दीक्षा त्यागी
धौलपुर, राजस्थान

संस्कृत में दण्डक छन्द का अतिलालित्य प्रसिद्ध है। यहाँ इसी दण्डक छन्द में हिन्दी भाषा का प्रयोग कर सीता की स्तुति की गयी है।

नमो सुदिव्य-अक्षिका मनोहरा मनोरमा सुदर्शना महाविलक्षणप्रभा सुचंचला सुरक्तपट्टअंबरा अनंत-वह्नि- गामिनी चंद्र के समान शुभ्र देविका नमो नमः।

महाविभूषणा सुशोभिता सुसज्जिता चंद्रहास चंद्रवदन चंद्रसम शीतला सरोज से सुनेत्र सत्त्वधारिणी हरिप्रिया प्रीतिरू जनकसुता जानकी नमो नमः।

धरासमानशीलधारिणी धराप्रिया धरित्रिनंदिनी धराधराधिराज की धिया धधारधीति-धीजना धुरीणधर्मपालिका धनुर्धरप्रिया धराधुरी धराप्रभा नमो नमः।

प्रबुद्धजनकपुत्रीपुच्छिका पवित्र पावका पयोधरा पतिव्रथा प्रज्ञता प्रफुल्लिता प्रभावली प्रदीप्त - पीत— हरिप्रिया प्रगल्भ-पुंजशालिनी जनकसुता नमो नमः।

सुमस्तका विशिष्टमस्तका मयूखमस्तका मयंकमस्तका मतंगमस्तकादिमस्तका दीप्तमस्तका दिशांगमस्तका अनंतमस्तका अछिन्नमस्तका विछिन्नमस्तका नमो नमः।

असीमसत्वशोभिता शुभ्रावृता वसुधासुता लवकुश माता सर्वेषामाता सर्वात्मिका सुदिव्यज्ञानामृतामूर्ति अनुपमलक्षणा करुणाकृपाशक्तिशीलसज्जिता नमो नमः।

महातपस्विनी श्रीरामचन्द्रहृदयवासिनी प्रवीण पाणिपंकजा पतालिका प्रभामयी सर्वजगत अम्बिका सर्वहृदयवासिनी श्रीरामहृदयविहारिणी नमो नमः।

नमो अनंतनंदिनी अखण्ड दीप्ति सृष्टि की धर्म-धैर्य-धारिणी-सत्त्वगुणोत्तुङ्गतपस्विनी नमो विवेक ब्रह्म की कला मुरारि की नमो मयूख सूर्य की मयंक-चन्द्रिका नमो नमः।

अमर्त्यलोक की महाविभूति ध्वांतनाशिनी ऋचा पुराण वेद आदि ग्रंथ की निरूपिणी प्रेमरूपिणी सुमंगला सुकर्मसिद्धिका सत्त्वजन्मदात्रि विश्वअंबिका नमो नमः।

जितेन्द्रिका ज्वलन्तजातवेदज्वालउद्भवी पयोजपादपादुका प्रबुद्ध बुद्धिपंडिता दशकंधर-दंभविनाशिका पुरुषोत्तमप्रिया महीपजा-महीश्वरी मैथिली नमो नमः।

सुकोमलांग कुंदनाभ रूपकाभ सज्जिता कुरंग-अंगिनी अभंग-अंगिनी अनंगिनी मनीषा-मृषा-मरुस्थली - महीमरीचिका सौम्यभावभंगिमा मैथिली नमो नमः।

पवित्रघोषरूपिणी प्रमादपुंजनाशिनी जानकी ब्रह्मवादिनी विरंचिवल्लभा अनंतमनवसिनी सुभाषिणी समुद्रजा सत्त्वशीलदायिनी वैदेही नमो नमः।

ललाट लम्बिका ललाम लम्ब लोचना
कपोललोल लोल नेत्र शील पुंजकोमला
स्नेह-छंद-रूपिणी अखंड-छंद-छंदिनी
ज्योत्स्नाप्रदायिनी जनकसुता नमो नमः।

दयालुदेविका जानकी वात्सल्यप्रदायिनी
समस्त सृष्टि में तेरी महानता महान है
शील सत्य सत्त्व चरित्र चित्त में भरो
कृपालिनी कृपा करो कृपा करो कृपा करो।

समस्त सृष्टि की व्यथा सुनो श्रीरामप्रिया
करे सभी करकंज जोड़ बार बार वंदना
नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो नमो
नमः नमः नमः नमः नमः नमः नमः नमः।

***

श्री बालहनुमान आरती

श्री घनश्याम दास 'हंस'

दलित संत-साहित्य के कवि
ग्राम- महरो, पो. पिपरिया, थाना मोहनियाँ, जिला- कैमूर, बिहार-821105

साहित्य की एक निरन्तर धारा होती है। नयी रचना उसे गतिशीलता प्रदान करती है। गति आवश्यक है, अन्यथा वह ठहरा जल कहा जायेगा। प्रस्तुत है एक दलित संत कवि की रचना-

आरती कीजे रामसखा की।
राम भरत रिपुहन लखा की॥टेक॥

वन्दौं आदि पुरुष भगवाना।
ग्यारहवें रुद्र रूप हनुमाना।
अञ्जनी मातु लाल अनूपा।
केशरी नन्दन निज कुलदीपा॥

वो प्रभु आज मम घर आयों।
बजरङ्गी हनुमान कहायों॥
द्विधा शिव रूप देखि हर्षाये।
बानर रूप राम को भाये॥

बाल हठ दशरथ जी पुराये।
जा माँगी मदारी से हनुमत लाये॥
प्रभु सेवा सान्निध्य पाई।
दशरथ आँगन सेवा धाई॥

भरत लखन रिपुहन दीवाना।
राम रूप मोहित हनुमाना॥
चारों भाईन्ह बीच रामसखा।
थिरकते आँगन आनन्द चखा॥

हरि सेवा लवलिन महाना।
जहँ-जहँ राम तहाँ हनुमाना।
परमारथ काज सेवा दीन्हा।
लखि राम रुख पहले कीन्हा॥

तन मन धन सब तुम पर वारों।
हे महाकाल महादेव सम्भारों॥
संकट मोचन आप कहावै।
भूत-प्रेत, रुज-दोष नसावै॥

घनश्याम दास हंस आरती गावै।
सकल सिद्धि नव निधि पावै॥
आरती कीजे राम सखा की।
राम भरत रिपुहनन लखा की॥

***

फलश्रुति और कर्मवाद का सिद्धान्त

डा. राजेन्द्र राज
स्वतंत्र पत्रकार एवं पूर्व प्राचार्य, जनता कॉलेज, सूर्यगढ़ा पुरानी बाजार, सूर्यपुरा, पोस्ट और थाना–सूर्यगढ़ा, जि. लखीसराय (बिहार), ईमेल–rajendraraj8140@gmail.com

भारतीय दर्शन की विशेषता है कि हर अच्छे कर्म की ओर प्रेरित करने के लिए तथा बुरे कार्य से विरत करने के लिए फलश्रुतियों का कथन हुआ है। अतः जिस वाक्य को सुनकर हम अच्छे कार्य की ओर प्रेरित होते हैं अथवा निषेध सुनकर उससे अलग हो जाते हैं वे सभी फलश्रुतियाँ हैं और उन सभी फलश्रुतियों में हमें आकर्षक लोभ दिया गया है। हम यदि घोर भौतिकवादी हैं तब भी हमें वे फलश्रुतियाँ भौतिक सुख की प्राप्ति के नाम पर ही सही, हमें उचित मार्ग दिखाती हैं और उस मार्ग पर चलकर हम निःश्रेयस की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। ये फलश्रुतियाँ हमें कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं फलतः कर्मवाद के सिद्धान्त के सन्दर्भ में इनकी व्याख्या की जा सकती है।

दर्शन-शास्त्र की जटिल और दुर्बोध परिभाषा में 'दृश्यते इति दर्शनम्' के आधार पर चर्म-चक्षुओं के अतिरिक्त ज्ञान चक्षुओं से विषय-वस्तुओं को देखा तथा अनुभव किया जाता है। अनुभूत विज्ञान को दर्शन कहा जाता है आध्यात्मिक क्षेत्र में मनीषियों और अध्यात्मवेत्ताओं ने दृश्यमान जगत् और चराचरादि आदि सभी वस्तुओं की स्थिति के अवलोकन, अध्ययन एवं परीक्षण करने के बाद माया ईश-परमात्मा, जीव जगत् आदि से सम्बन्धित प्रश्न व जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत किया।

ईश्वर एवं विश्व के सम्बन्ध को निरूपित करने वाले ईश्वरवादी सिद्धान्तों में ईश्वर को ही परम सत्ता माना जाता है। यह एक अनंत, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान सत्ता है, जो व्यक्तित्व रहित है तथा संसार का रचयिता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता है। जड़ एवं चेतन ईश्वर पर आश्रित है। जड़ से अपूर्णता एवं चेतन से पूर्ण अभिव्यक्ति एवं स्वतंत्रता का भाव परिलक्षित होता है। वेदों में यह धारणा व्यक्त हुई है।

शंकराचार्य ने वेदों और उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म को मूल सत्ता माना है और यह निर्गुण है। परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही सत्य है– यह जगत् नहीं। जब ब्रह्म में विश्व अभिव्यक्त हो जाता है तो वह ईश्वर बन जाता है। सच तो यह है कि ब्रह्म ईश्वर एवं जगत् से परे है।

पश्चिमी दार्शनिक हीगेल ने प्रत्यय अर्थात् विचार को सत्य माना है। ईश्वर से ही विश्व की अभिव्यक्ति है। एक और पश्चिमी दार्शनिक वर्ग के अनुसार जो मूल प्राणशक्ति है, वही ईश्वर है। यह जड़, चेतन, जीव आदि में अभिव्यक्त होती हैं। वैसे अनेकेश्वरवाद को प्राकृतिक अवस्था में

"जिस वाक्य में किसी कर्म के फल का वर्णन होता है तथा सुनकर लोगों को उसी कर्म के करने की प्रवृत्ति होती है, वही तो फलश्रुति है।"

विकसित विचार माना जाता है, जिसमें अनेक देवों पर विश्वास होता है। वैसे भैतिकवादी धारणा के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार अनीश्वरवादियों ने भूत या जड़ को मूल तत्त्व माना है। जीव, मनस्— माइंड्स और चैतन्य इसी से विकसित हुए हैं।

जर्मनी के दार्शनिक काण्ट बुद्धिवाद और अनुभववाद के आधार पर संसार की समीक्षा करते हैं। इसलिए सृष्टिवाद और विकासवाद के अनुसार ईश्वर एवं भूत पदार्थों के क्रमिक विकास से संसार की रचना हुई है। सांख्य दर्शन के द्वैतवाद में मूल तत्व भौतिक और प्रत्यायात्मक है। मन का गुण चैतन्य या विचार है तो शरीर का गुण स्थूल व विस्तार है। मन और शरीर ही द्वैत है। नियतिवाद अवधारणा के अनुसार प्राणी स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकता। ईश्वर के संकेत पर वह कार्य करता है। उनके कार्यों को शुभ या अशुभ नहीं कहा जा सकता।

भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा में कर्म और प्रभाव जुड़ा हुआ है। यज्ञादि अनुष्ठान, पितृ तर्पण और तीर्थयात्रा के बाद इस कर्म सिद्धान्त में जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्ति अर्थात मोक्ष-प्राप्ति है। मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है, लेकिन वह पुनर्जन्म से भी बँधा हुआ है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्म के विविध अर्थ होते हैं। पुराणों के अलावा विश्व के सभी दर्शनों में कर्मवाद का सिद्धान्त है। कर्म हमारे विचारों, शब्दों और क्रियायों जो स्वयं करते हैं दूसरे हमारे निर्देश पर करते हैं, में विभक्त है। जिस वाक्य में किसी कर्म के फल का वर्णन होता है तथा सुनकर लोगों को उसी कर्म के करने की प्रवृत्ति होती है, वही तो फलश्रुति है। कर्म के कारण बीज से अंकूर फूटते हैं। एक क्रिया की प्रतिक्रिया ही कर्म-बन्धन है। पाणिनि इसे कर्म को कर्ता के लिए इष्ट मानते हैं। मीमांसा-दर्शन में क्रियाकांड या यज्ञ है, तो वैशेषिक दर्शन में जो एक द्रव्य में समवाय से रहता है। गीता में यह कर्तव्य है तो न्याय-शास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमनरूप में है। कर्म ही सुख-दुःख का कारण है। शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य आदि कर्म में मान्य हैं। मनुष्य के कर्म का फल तो परिस्थितियों ओर दैवी शक्तियों के द्वारा निर्धारित होता है।

गरुड़ पुराण में मनुष्य के द्वारा किए गए बुरे कर्मों का परिणाम उसके जन्म से लेकर मृत्यु और उसके बाद तक दुखों का कारण बनता है। मनुष्यों को आवश्यकता के अनुसार धन का संचय, आय से अधिक खर्च नहीं,क्षमता के अनुसार दान-पुण्य, अच्छी संगति, किसी से कुछ छल से नहीं लेने जैसे कर्म करने को कहा जाता है। सकारात्मक सोच या विचार होने से ही अच्छे कर्म बनते हैं। विचार से ही कर्म बनते हैं। पुरुषार्थ से प्रारब्ध को बदला जाता है। विश्व में सबसे बड़ा नारी का अपमान है। द्रौपदी के अपमान के कारण ही महाभारत का युद्ध हुआ। किसी को निस्वार्थ भाव से सहायता करना, सकारात्मक विचार ही पुष्य है,जब कि द्वेष भावना, लोभ, लालच ओर अहंकार पाप हैं। बृहदारण्यक के अनुसार मनुष्य का कर्म ही उसके साथ जाता है। भारतीय दर्शनगमक मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र मानता है। इस कर्म-स्वतन्त्रता के कारण मनुष्य योग तथा आध्यात्मिक मार्ग पर चल कर जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

महान वेदान्ती विवेकानन्द ने कहा है— 'अपने विचारों पर नियन्त्रण रखो, नहीं तो वे तुम्हारा कर्म बन जाएंगे, और अपने कर्मों पर नियंत्रण रखो, नहीं तो वे तुम्हारे भाग्य बन जाएँगे। कर्म ही व्यक्ति के भाग्य और

जीवन का निर्माण करते हैं। सृष्टि में कोई भी व्यक्ति बिना कर्म के नहीं रह सकते हैं।"

परमात्मा को सब कुछ मानकर हानि-लाभ में सम रह कर शान्तभाव से कर्म करना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवतपुराण के 10 वें स्कन्ध के 24 वें अध्याय के 13 वें श्लोक में कहा है—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

कर्म से ही जीव जन्म लेता और कर्म से ही उसका विनाश होता है।उसे उसके कर्म के अनुसार ही सुख-दुख,भय और मंगल के निमित्तों की प्राप्ति होती है। वास्तव में गीता कर्म योग, ज्ञान कर्म और भक्ति का समन्वयात्मक चिन्तन प्रस्तुत करता है। कर्म आचरण या आचार है,जो मानव जीवन के लिए है जो मानव जीवन के कल्याण चेतना से परिपूर्ण है। सांख्य दर्शन में कर्म को अधिक महत्व दिया गया है। वेदों में कहा गया है— 'यज्ञेत स्वर्गकामः', अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वालों को यज्ञ करना चाहिए। ऋग्वेद का निर्देश है-

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। (ऋग्वेद 10.53.6)

अर्थात् हे मनुष्य, तू मनुष्य बन तथा दिव्य व्यक्तित्व के निर्माण में अपने जीवन का लगा।

दर्शन एक अर्थ में जिज्ञासा भी है। जैमिनि के मीमांसा में जिज्ञासा ही मुख्य है। जैमिनि के पूर्व मीमांसा दर्शन में अनीश्वरवाद है और उत्तर मीमांसा में ब्रह्मवाद। वेदान्त में ईश्वर सगुण ब्रह्म का प्रणेता है। कर्मकाण्ड मनुष्य का प्रथम धर्म है। ज्ञान का अधिकार उसके बाद आता है। शब्द मात्र देवता हैं। मन्त्र ही सब कुछ है।

हमारे ऋषियों ने कहा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अपने 'रामचरितमानस' जैसे लोकोपकारी ग्रन्थ में सन्त कवि तुलसीदास ने आध्यात्मिक विचारों को सुन्दर, सरल और सुस्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। उत्तरकाण्ड के 64.8 वें दोहे में भगवान् श्री राम के मुख से प्रजा के लिए उपदेश दिया गया है है—

बड़े भाग मानुष तन पावा
सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।
पाइ न जेहिं परलोक सुधारा॥

इसी कांड के 62.1 वें दोहे में कहा गया है—

परहित सरिस धर्म नहीं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह मानव शरीर साधन धाम है और मोक्ष का द्वार है। मानव जीवन का परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। तुलसीदास ने मानव शरीर के कर्तव्य की ओर ध्यान दिलाया है और वेदांत की शरण में जा कर चतुष्टय ज्ञान प्राप्त करने का संकेत दिया है।

बालकांड के इस चौपाई में

आकर चारि लाख चौरासी।
जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राममय सब जग जानी।
करउं प्रनाम जोरि जुग पानी।

इसके बाद उन्होंने इस दोहे में कहा है

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वंदउ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

अर्थात् जो वाणी और उसके अर्थ तथा जल और जल की लहर के समान कहने में अलग-अलग हैं परंतु वास्तव में अभिन्न— एक हैं उन श्रीसीतारामजी के चरणों की मैं वन्दना करता हूं, जिन्हें दीन-दुःखी बहुत ही प्रिय हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के 15 वें अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

अर्थात् आदिपुरुष परमेश्वर रूप मूलवाले और ब्रह्मरूप मुख्य शाखा वाले जिस संसार रूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा वेद जिसके पत्ते कहे गए हैं— उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरष मूल सहित तत्त्व से जानता है,वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। इसी अध्याय के दूसरे श्लोक में कहा गया है कि उस संसार वृक्ष की तीनों गुणों रूप जल के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय-भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएं नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोक में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता-ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥

हमारे भारतवर्ष में ईश्वर प्राप्ति या सद्गति के लिए तीन मार्ग-ज्ञान, भक्ति तथा कर्म बताए गए हैं। वैदिक कर्मकांड के हिंसावाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्ध धर्म का प्रभाव जम गया, लेकिन उसी के साथ कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद का भी प्रभाव बढ़ा। जगद्गुरु शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' से मायावाद के सिद्धान्त को स्थापित किया। जनमानस के सन्तोष के लिए रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद से नारायण की भक्ति पर बल दिया। उत्तरी भारत में वैष्णव-धर्म का प्रचार हुआ।

जन-साधारण तक इसका प्रचार -प्रसार हुआ। इन्हीं के शिष्य रामानन्द ने भक्ति का मार्ग सभी लोगों के लिए खोल दिया। रामानन्द के ही सम्प्रदाय के शिष्य कबीरदास ने निर्गुण और तुलसीदास ने सगुण ब्रह्म के रूप में भगवान राम की उपासना की। उत्तरकाण्ड के 182.1 दोहे में तुलसीदास ने कहा —

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

अर्थात् प्रत्येक जीव ईश्वर का अंश है और यह अंश रूपी आत्मा ही अविनाशी है। उन्होंने ब्रह्म की निर्गुण और सगुण स्वरूप की उपासना बालकांड में करते हुए कहा—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना॥

वहीं विनयपत्रिका में —

'केशव! कहि न जाइ का कहिए,
देखत तब रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥

वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जिसके धन-वैभव का उपयोग सब के लिए हो, जिस समाज में परोपकारी व्यक्तियों का बाहुल्य हो वही समाज श्रेष्ठ है और वही साहित्य श्रेष्ठ है जो सब के लिए लाभकारी हो —

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के 12 वें अध्याय के चौथे श्लोक में कहा है कि सम्पूर्ण प्राणियों के हित में संलग्न मनुष्य ईश्वर को प्राप्त होते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

हमारे ऋषियों ने मंगलकामना की है

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

राजा रन्तिदेव ने कहा था कि प्राणिमात्र के दुख निवारण के लिए स्वार्थ का त्याग आवश्यक है—

न त्वहं कामये राज्यं न सुखं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

सभी को अपने स्थान पर कर्तव्य करना चाहिए। दूसरे के कर्म से अपना साधारण कर्म ही श्रेष्ठ होता है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

समाज और परिवार में मनुष्य होने के कारण सामर्थ्यभेद से गुणभेद होते हैं। इसलिए सबको

विकसित होने का अवसर तो मिले, लेकिन एक दिशा में संभव नहीं है। तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड के 128.1-2 दोहे में कहा –

एक पिता के विपुल कुमारा।
होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता।
कोउ धनवन्त सूर कोउ दाता॥

रामचरितमानस भी हमारे लिए संसार-सागर से पार उतरने के लिए एक पोत के समान है, इसलिए मनुष्य के साथी तो स्वार्थी हैं। इनका साथ छोड़कर रघुनाथ राम की शरण में जाना श्रेयस्कर है–

"तुलसी स्वारथ-मीत सब परमारथ रघुनाथ।

राम तो व्यापक हैं,परब्रह्म हैंऔर नाना पुराण निगमागम सम्मत हैं। ब्रह्म वास्तव में निराकार, निर्गुण, अजन्मा, अनादि अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ज्ञान का अर्थ विचार की साधना है और कर्म का अर्थ है आचरण की साधना।

***

वाल्मीकि-रामायण के पाठ की फलश्रुति (उत्तरकाण्ड के अन्तिम सर्ग से)

यह सबसे पहली वाल्मीकि ऋषिजी की कविता में लिखी हुई ऐसी 'रामायण' की पोथी है कि जो पढ़ ले उसे भले ही भले काम करने को मिले। उसका चारो ओर नाम हो और वह बहुत दिन जीये और इसे कोई राजा पढ़ ले, तो उसे चारों ओर जीत ही जीत मिलती रहे, कोई उसे हरा न सके॥107॥ संसार में जो भी कोई इस रामायण को सुने उसके सारे पाप मिट घुलते हैं और श्रीराम की राजगद्दी की बात सुन ले तो निपूते को सपूत राजा सुन ले तो उसकी चारों ओर जीत ही मिल जाता है, कंगाल को धन मिल जाता है। जीत होती है, सारे बैरी उसकी पैरों तले आए बैठ रहते हैं॥108-109॥ जैसे कौसल्याजी अपने बेटे श्रीराम को, सुमित्रा अपने बेटे लक्ष्मण (शत्रुघ्न) को और कैकेयी अपने बेटे भरत को अपने सामने सदा जीता देखती रहीं, वैसे ही जो भी नारी इसे पढ़े या सुने, वह अपने बेटों को सदा अपने सामने बने रहे देखेगी; सदा मगन रहेगी और उसकी गोद बेटों-पोतों से भरी रहेगी॥110॥ श्रीराम की जीत की कहानीवाले इस रामायण को सुननेवाला बहुत दिन जीता रहे॥111॥ महर्षि वाल्मीकिजी के रचे हुए इस रामायण को जो भी ठण्डे जी से मन लगाकर सुनता है, उस पर आई हुई बड़ी से बड़ी बिपदा दूर हो भागती है॥112॥ महर्षि वाल्मीकि के रचे हुए इस रामायण को सुननेवाले परदेस में गए लोग लौटकर अपने घर वालों से आ मिलकर मगन हुए रहते हैं और उन्हें श्रीराम से सब कुछ मनचाहा मिल जाता है॥113-114॥ इस रामायण को सुननेवालों पर देवता लोग ऐसे रीझे रहते हैं कि उन पर खोटे गुह्यों ने कुछ खोट भी कर डाली हो, तो सब ठण्ढे हो बैठते हैं॥115॥ राजा इसे सुनता रहे तो इस धरती का राजा हुआ रहता है। परदेस में गया हुआ भला-चंगा रहता है और नहाने के सोलह दिनों के भीतर जो नारियाँ इसे सुन लें, तो उन्हें सपूत बेटा मिलता ही मिलता है॥116॥ जो भी कोई इस सच्ची कथा (इतिहास) को पढ़ता और उसकी पूजा करता है (इसका आदर करता है) उसके सारे पाप तो मिट ही जाते हैं, वह बहुत बरसों तक जीता भी है॥117॥ जो क्षत्रिय बड़े आदर से सिर नवाकर इसे सुने तो उसे सारे ठाट-बाट के साथ सपूत भी मिल जायगा, यह पक्की बात है॥118॥ जो भी कोई आए दिन इस सारे रामायण को पढ़ता-सुनता है, उस पर श्रीराम सदा रीझे रहते हैं॥119॥ भगवान् नारायण ही श्रीराम हैं और लक्ष्मण ही शेष के अवतार है॥120॥

(आचार्य सीताराम चतुर्वेदी कृत वाल्मीकि-रामायण के हिन्दी अनुवाद से)

मन्दिर-अर्चा में ध्यान की भूमिका

डा. दीपा दुराइस्वामी

शैवागम विषय पर अध्यापन कार्य। "कामिकागम में मन्दिर-प्रबन्धन" विषय पर शोध-प्रबन्ध। 24 B, वाल्मीकि स्ट्रीट, दशरथपुरम्, सालिग्राममु, चेन्नई - 600093. (तमिलनाडु),

पूजा दो प्रकार की होती हैं- आत्मार्थ और परार्थ। आत्मार्थ पूजा वह है जो अपने लिए की जाती है और मन्दिरों में होनेवाली पूजा परार्थ-पूजा है। परार्थ पूजा करनेवाले को पुजारी कहते हैं तथा आत्मार्थ पूजा करनेवाले को साधक कहते हैं। आत्मार्थ-पूजा में संक्षिप्तता तथा सरलता होती है, किन्तु परार्थ-पूजा में शास्त्र के सभी नियमों का यथोचित पालन करना होता है तथा पूजा के उपकरण भी अनिवार्य हो जाते हैं। इस आलेख में परार्थ पूजा के सन्दर्भ में ध्यान की भूमिका को शास्त्रीय विधि के परिप्रेक्ष्य में समझाया गया है। यहाँ यद्यपि शैवागम के ग्रन्थ कामिकागम के आधार पर प्रतिपादन किया गया है, किन्तु कमोबेश यही नियम आगम की अन्य शाखाओं जैसे- शाक्त, वैष्णव आदि में भी हैं, केवल इष्टदेव तथा पूजा के उपकरण बदल जाते हैं। इस आलेख में स्पष्ट किया गया है कि ध्यान कर्मकाण्ड के साथ साथ योग का भी अंग है बल्कि योग के आसन से लेकर ध्यान तक सभी अंग कर्मकाण्ड में दैनिक कर्म के रूप में परिगणित हैं- आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान ये सभी मन्दिर के एक पुजारी के दैनिक कर्तव्य हो जाते हैं।

लेखक के मूल अंगरेजी आलेख का अनुवाद सम्पादक द्वारा किया गया है।

सारांश

आदिशिव से सम्बद्ध मन्दिर के साधकों के जीवन में ध्यान का एक विशेष स्थान है। प्रातःजागरण से लेकर दैनिक मन्दिर पूजा तक वे एक दिन में अनेक प्रकार की ध्यान-साधनाएँ करते हैं।

यद्यपि आगम पद्धति से परार्थ-पूजा अर्थात् मन्दिर में की जानेवाली पूजा के क्रम में किया जाने वाला ध्यान एक विशेष प्रकृति का अनुष्ठान होता है। यह पूजा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में न केवल देवताओं के समूह के लिए बल्कि प्रत्येक देवता के लिए उपयोग किए जाने वाले विभिन्न आसन आदि पूजोपकरण के लिए भी अलग-अलग ध्यान निर्धारित किए जाते हैं। यह ध्यान एक अनुष्ठानिक दृश्य प्रतीत होता है जो मन्त्र और भावना के साथ पूजा का मूल बनता है।

यह शोधपत्र मन्दिर में दैनिक नित्य पूजा के एक सत्र में ध्यान की भूमिका को पहचानने और प्रतिपादित करने के साथ-साथ प्राथमिक आगम सहित शैवागम-सिद्धांत में पाठ्य-संदर्भों का उपयोग करके मन्दिर के संदर्भ में ध्यान के विशिष्ट अर्थ को समझने और वर्णन करने का प्रयास करता है और पूजा-पद्धति 12वीं सदी के सैद्धान्तिक व्याख्याता और सबसे प्रमुख शैव अनुष्ठान अधिकारियों में से एक श्री अघोर शिवाचार्य द्वारा लिखित श्री परार्थनित्यपूजाविधि के आधार पर लिखित है। साथ ही, इसका व्यावहारिक ज्ञान साधकों के साथ बातचीत से परिपुष्ट हुई है।

भूमिका

मन्दिर के अनुष्ठान आगमों के सिद्धांत का पालन करते हैं। शैव-परंपरा शैवागम का अनुसरण करती है। कहा जाता है कि अट्ठाईस शैवागम ग्रंथों में से प्रत्येक को चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान के चार मार्गों पर व्यवस्थित किया गया है। चर्या को मन्दिर में सेवा सहित पालन करने के लिए जीवनशैली दिशा-निर्देशों के एक समूह के रूप में समझा जाता है। क्रिया अनुष्ठान-क्रिया को दर्शाता है। योग आंतरिक क्रिया है और ज्ञान शैवसिद्धांत[1] के दार्शनिक निर्माण के माध्यम से पति— भगवान, पशु— आत्मा और पाश —बंधन की त्रिगुणात्मक शाश्वत संस्थाओं की प्रकृति का अनुभव है।

चूँकि मन्दिर-पूजा बाह्य-अनुष्ठानों की एक शृंखला के रूप में प्रकट होती है, इसलिए इसे सामान्यतः क्रिया के रूप में समझा जाता है। अनुष्ठानों को भौतिक मानकर उनके प्रति उदारता दिखाने की एक सामान्य प्रवृत्ति है जबकि योग और ज्ञान मार्ग उन लोगों के लिए माने जाते हैं जो आध्यात्मिक हैं। हालाँकि, वास्तव में, मन्दिर पूजा एक जटिल व्यवस्था है —जिसमें सभी चार मार्गों के तत्त्व शामिल हैं, क्योंकि इसका आधार शैवसिद्धान्त की नींव पर मजबूती से टिका हुआ है।

हालाँकि सिद्धांत के बारे में गहराई से जानना इस पेपर के दायरे में नहीं है, लेकिन मन्दिर में ध्यान की भूमिका, जिसे सामान्यतः ध्यान के रूप में अनूदित किया जाता है, और योग का क्षेत्र माना जाता है —का पता लगाने के लिए आगे बढ़ने से पहले पूजा प्रक्रिया को संक्षेप में समझना आवश्यक है।

सूक्ष्म जगत् में स्थूल जगत्

'सिद्धांत' जगत् 'पति' से लेकर पाँच तत्त्वों से बने भौतिक संसार तक विभेदीकरण के क्रमिक स्तरों तक उत्सर्जित होता है, जिससे पशु-रूप आत्माएँ बार-बार अपने अवतार में अपने पाश-बन्धनों के माध्यम से उत्तरोत्तर कार्य कर सकें। नाद से लेकर शिव के स्तर तक, बिन्दु से लेकर शक्ति के स्तर तक, सदाशिवतत्त्व तक, फिर ईश्वर तत्त्व तक कुल 36 तत्त्व हैं। यहाँ कई उच्च विकसित पशु आत्माएँ, एक आवेश, अधिकार मल के अतिरिक्त सभी पाश-बंधनों से मुक्त हो चुकी हैं और उन पर नियंत्रण पा चुकी हैं। इन्हें जगत् के भगवान के रूप में माना जाता है। पुनः शुद्धविद्या तत्त्व के लिए अधिक विकसित आत्माओं, पिछले स्तर की तुलना में थोड़ा कम विकसित, को मन्त्र और उनके भगवान् के रूप में नियुक्त किया जाता है।

चूँकि संपूर्ण स्थूल जगत् शिव ही है, इसलिए मन्दिर की पूजा स्थूल जगत् को सूक्ष्म जगत् में आवाहन कर प्रभावित करने का प्रयास करती है। उच्चतम स्तर का आवाहन करके

1. "वह "जगत्" जिसमें शैव अनुष्ठान होता है, पश्चिमी विज्ञान या "सामान्य ज्ञान" की परिचित दुनिया नहीं है, जिसे आधुनिक पश्चिमी लोग अक्सर सभी लोगों के लिए सामान्य मानते हैं। न ही यह किसी विशेष समुदाय या समाज के समाजशास्त्रीय रूप से परिभाषित ब्रह्मांड में होता है... बल्कि शैव पूजा एक ऐसी दुनिया में की जाती है जो शैव सिद्धांत द्वारा औपचारिक रूप से व्यवस्थित और गठित होती है। एक ऐसी दुनिया जो दोलन करती है, जो शिव की उपस्थिति से व्याप्त है, जिसमें मनुष्य बंधन की स्थिति में रहते हैं, और जहाँ मानव आत्मा का सर्वोच्च उद्देश्य अपने बंधनों से मुक्ति प्राप्त करना है। उस दुनिया के भीतर, शैव उपासक उन शक्तियों, वस्तुओं और श्रेणियों के साथ और उन पर कार्य करता है जो शैव ऑन्टोलॉजी द्वारा उसके लिए परिभाषित की गई हैं, और अनुष्ठान का अभ्यास करने में उसके लक्ष्य शैव सोटेरियोलॉजी में दर्शाए गए मानव प्राप्ति की संभावनाओं और उद्देश्यों पर आधारित हैं।" - डेविस (1986)

जिस स्तर तक पहुँचा जा सकता है वह सदाशिव तत्त्व, जो आकार और निराकार दोनों है, भगवान का आवाहन करने की प्रक्रिया है। लिंग में शिव और वेदी आधार में शक्ति का आवाहन और दोनों को जोड़ने की प्रक्रिया को प्रतिष्ठा कहा जाता है। परिणामतः यह एक भौतिक स्थान को मन्दिर के गर्भगृह में बदल देता है। एक बार आवाहन करने के बाद भगवान को एक श्रद्धेय अतिथि के रूप में पूजन क्रम में दैनिक आतिथ्य के बदले हमेशा के लिए वहाँ रहने के लिए आमन्त्रित किया जाता है।

मन्दिर पूजा

आगम पूजा को आत्मार्थ-पूजा और परार्थ-पूजा में विभाजित करते हैं। पूजा को शुभ माना जाता है, यह सभी पापों को दूर करती है और सभी प्रकार की समृद्धि प्रदान करती है, भुक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त करने में मदद करती है। आत्मार्थ पूजा अपने घर पर गुरु द्वारा दिए गए शिवलिंग की व्यक्तिगत पूजा है। शैवागम ग्रंथ सभी जातियों के प्रत्येक व्यक्ति से गुरु से दीक्षा प्राप्त करने और प्रतिदिन आत्मार्थ पूजा करने का आग्रह करते हैं।

दूसरी ओर, परार्थ पूजा, सार्वभौमिक लाभ के लिए मन्दिरों में स्थापित शिवलिंग को अर्पित की जानेवाली पूजा है। यह केवल आदिशैव पुजारियों के लिए निर्धारित है, जिन्हें चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं किया गया है, बल्कि भगवान शिव द्वारा अपनी पूजा के लिए विशेष रूप से बनाया गया है। वे विश्व के परे शिवसृष्टि हैं, जो ब्रह्मसृष्टि है। उनका विशेष विशेषाधिकार और उत्तरदायित्व आगम के अनुसार भगवान शिव की पूजा करना है।

जब आदिशैव आचार्य भगवान का आवाहन करते हैं, तो वे यह भी वचन देते हैं कि पूजा दिन में एक निश्चित संख्या में होगी। यह नित्यपूजा है —दैनिक पूजा, लेकिन बिना किसी रुकावट के शाश्वत-पूजा भी।

इससे पहले कि हम नित्यपूजा प्रक्रिया और अनुष्ठान में ध्यान की भूमिका का विचार करें। यहाँ भी पहले देखें कि आगमशास्त्र ध्यान को कैसे परिभाषित करता है?

ध्यान का अर्थ

'रौरवागम' में ध्यान का वर्णन "चिन्ताभावनार्थं कल्पना मनसः क्रिया" के रूप में किया गया है।[2] यह चिन्ता, विचार और भावना दोनों है। चिन्ता एक ऐसा शब्द है जिसके कई अर्थ हैं, लेकिन शैव आगम में इसका एक विशिष्ट अर्थ है।

भावना का अनुवाद[3] 'होना, प्रभावित करना, उत्पादन करना, प्रदर्शित करना, प्रकट करना'; 'कल्पना करना, सोचना' और 'उत्पादन या प्रभाव डालने का कार्य; मन में निर्माण, अवधारणा, आशंका, कल्पना, अनुमान, कल्पना, विचार, ध्यान के रूप में किया जाता है।

रिचर्ड डेविस इसका अनुवाद 'कल्पनाशील पुनर्निर्माण' के रूप में करते हैं। प्रो. सभारत्नम् ने इसका अनुवाद 'विचारपरक अभ्यास' के रूप में किया है।

आदिशैव साधक यह बताते प्रतीत होते हैं कि भावना से उनका तात्पर्य एक भावनात्मक दृष्टिकोण, अनुष्ठान के प्रति संवेदनशील और लचीला होने की भावना, किसी भी सन्देह को दूर करना और खुद को पूरी तरह से इस प्रक्रिया के लिए समर्पित

2. रौरवागम : विद्यापाद 10.24-25- ध्यानं चिन्ताभावनार्थं कल्पना मनसः क्रिया। मनसः परिपूर्णत्वात् परितृप्तो भवोद्भवः॥ स्वस्थत्वात् सुप्रशान्तत्वात् परिनिर्वाणमुत्तमम्। ध्यानाहारं भगवती भवतीत्युपलक्षणम्॥
3. मोनियर विलियम्स का शब्दकोष

करना है। यह विश्वास करने की क्षमता नहीं है, बल्कि वास्तविकता में अन्तर्निहित विश्वास है। उस सन्दर्भ में, इसका अर्थ भक्ति भी है; क्योंकि आगम कहता है कि जिस तरह घर्षण के माध्यम से लकड़ी में आग जलती है, उसी तरह मन्त्र और भक्ति[4] के माध्यम से शिव का आवाहन सम्भव है।

इसलिए शैव अनुष्ठान परिप्रेक्ष्य में ध्यान को शायद 'क्रियात्मकता' के रूप में बेहतर समझा जाता है; क्योंकि साधक केवल कल्पना नहीं करता है, बल्कि एक वास्तविकता रचता है जिसके साथ वह सक्रिय रूप से जुड़ता है।

ध्यान का महत्त्व

आगमों से निर्मित भगवान् शिव के वर्णन में, ध्यान श्लोकों को फूल और मालाओं के रूप में वर्णित किया गया है।[5] ध्यान श्लोक को दर्शाने के लिए प्रयुक्त शब्द स्वयं 'बिंबम्' रूप में है।

'पूर्वकामिकागम' का दावा है कि ध्यान सब कुछ पूरा करने में समर्थ है— सर्वसिद्ध्यर्थम्[6]।

भगवान शिव को दिए गए वर्णनात्मक नामों में से एक नाम 'ध्यान-हाराय' है, जो ध्यान को माला के रूप में पहनते हैं।

नित्य पूजाविधि में ध्यान

दैनिक पूजा के क्रम में, आदिशैव साधक को सबसे पहले भूतशुद्धि करनी होती है जिसमें पाँच प्रकार की शुद्धि और ऊर्जस्विता सम्मिलित होती है— आत्मशुद्धि, स्थानशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और लिङ्गशुद्धि। यह एक शक्तिशाली प्रक्रिया है जो आत्मशुद्धि से शुरू होती है। वह आन्तरिक शुद्धि और ऊर्जा प्रदान करती है, जो उपासक को शिव के स्तर तक ऊपर उठाती है।

इस प्रक्रिया के दौरान साधक को यह कल्पना करने के लिए कहा जाता है कि अब उसके पास एक विद्यादेह है— भौतिक शरीर के स्थान पर ऊर्जा का शरीर है। इस शरीर के विभिन्न भागों में बीजाक्षर बीज मन्त्रों का स्थान होता है। दुरईस्वामी (2021) का कथन है—

सबसे पहले आचार्य एक उपयुक्त आसन (दर्भ, कुश आदि से बनी चटाई) पर उत्तर दिशा[7] की ओर मुख करके बैठते हैं। फिर वे संबंधित मन्त्र, अनुष्ठान क्रिया और मानसिक ध्यान के साथ अमृतीकरण करते हैं; मूलमन्त्र का उपयोग करके शिवतत्त्व आवाहन करते हैं और पंचब्रह्म और अंगमन्त्र का उपयोग करके उस ऊर्जा को अपनी हथेलियों में रखते हैं। ये क्रियाएँ उसके हाथों को ऊर्जावान बनाती हैं और उसे शिवहस्त[8] बनाती है। फिर, वह करन्यास और अंगन्यास करते हैं, अपनी भुजाओं और शरीर के अंगों को मन्त्र से सक्रिय करतें हैं। यह अंगन्यास सृष्टि या संहारन्यास[9] क्रम से किया जा सकता है, जहाँ गृहस्थों के लिए सृष्टि-न्यास का

4. पूर्वकामिकागम 4.352-353पूर्वार्द्ध- तथा मन्त्रप्रभावेन भक्त्याभिव्यज्यते शिवः।
5. तत्रैव 1.101- बिम्बम् पुष्पे च माल्ये च सिद्धान्तेन निवेदितम्।तन्त्रात्मकशरीरेण मन्त्रमूर्तिमयेन तु॥
6. तत्रैव 4.329- सदाशिवस्य रूपम् ध्यानार्थम् इह कथ्यते। ध्यानं वै सर्वसिद्ध्यर्थं पटादौ वापि निर्मितम्॥
7. तत्रैव 4.38पू.-39- मार्जिते चोपलिप्ते च धामन्यन्यत्र वा बुधः॥ कुशकृप्तासने बृष्यामथ कृष्णमृगाजिने। यथेष्टमानसं बध्वा ऋजुकायोत्तराननः॥
8. तत्रैव 4.40-42पू. चन्दनालिप्तहस्तौ तौ शोधयेद् अस्त्रमन्त्रतः। परस्परौ च संस्पृश्य तलकौ हस्तपृष्टकौ॥ अमृतीकृत्य मूलेन वौषडन्तेन मन्त्रतः। विद्याशरीरतां ध्यात्वा तयोश् शक्त्यन्तम् उत्तमम्॥ मूलेन शिवम् आवाह्य ब्रह्मण्यङ्गानि विन्यसेत्।
9. तत्रैव 4.42उ.-44- गृहस्थः सृष्टिमार्गेण करन्यासं तु कारयेत्॥ वानप्रस्थयतीनाञ्च संहारन्यासमुच्यते। अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तम् ईशात् सद्यावसानकम्॥ सृष्टिन्यासस्समख्यातस्सद्यादीशावसानकम्। कनिष्ठाद्यङ्गुष्ठान्तञ् च संहारन्यासमुच्यते॥

विधान है।

केवल करन्यास करने से ऊर्जावान् हाथ ही सभी प्रकार की पूजा करने के योग्य और सक्षम हैं।[10] तब आचार्य शिव का ध्यान करते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा, वह अपने मानस पर शासन करते हैं जो शरीर में व्याप्त है और इसे हृदयगुह्य या ब्रह्मरंध्रम्[11] में विलीन कर देते हैं।

आचार्य अपने शरीर के दहन की कल्पना करते हैं और उसका पुनर्निर्माण करते हैं।[12] जिस प्रकार सोना आग से शुद्ध होता है, उसी प्रकार आचार्य ज्ञानाग्नि[13] से शुद्ध हो जाता है। आगम इस अवस्था में साधक आचार्य को "साक्षात् जीवन्मुक्त"[14] कहता है। इस चित्तलय को प्राप्त करने के बाद, आचार्य अपनी दीक्षा[15] के समय दिए गए तत्त्वों की कल्पना करते हुए कलशशोधन करते हैं। शैवसिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड की पृथिवी (पृथ्वी) से आरम्भ होकर परशिव (अन्तिम तत्त्व जो ब्रह्मांड से परे है और इससे परे है, भगवान) तक छत्तीस तत्व हैं।

आचार्य धारणा[16] करते हैं, जहाँ वे पंचभूतों का ध्यान करते हैं, जिनमें से प्रत्येक अलग आकार, रंग, प्रतीक, बीज, देवता, मन्त्र, अंग, कला और उद्गाता से जुड़ा होता है और उन्हें अपने शरीर के विभिन्न हिस्सों पर स्थापित करते हैं। फिर वे एक विशेष प्राणायाम[17] करते हैं, जिसमें ऊर्जा प्रवाह के शक्तिशाली दृश्य होते हैं जो शिव के साथ विलीन हो जाते हैं। फिर वह दीक्षा के समय दिए गए प्रसादमन्त्र का ध्यान करता है। इस ध्यान में शक्तिशाली दृश्यावलोकन भी शामिल है, संसार के बन्धनों को उखाड़ना, उसे धोना, बन्धनों को जलाना, परिणामी भस्म[18] को उड़ाना, महामाया रूपी शरीर को नष्ट करना और शुद्ध शक्तिशरीर को फिर से

10. तत्रैव 4.50- एवं शिखीकृतौ हस्तौ समर्थौ सर्वकर्मसु। सकलीकरणे सन्ध्याकाले चाचमने तथा॥
11. तत्रैव 4.51ब-53- ...संहारमुद्रया देहव्याप्तं चित्तं निरुध्य च॥ हृत्पद्मगुह्यराधारे शिवे वा व्योम्नि निर्मले। हृत्कण्ठतालुभ्रूशङ्खरोधिन्यो ब्रह्मरन्ध्रकम्॥ कुटिला व्यापिनी तन्वी समना उन्मना तथा। तासामुपरि या शक्तिस्तस्यां वा योजयेन्नरः॥
12. तत्रैव 4.54-55- कृत्वाभिध्यानम् आदौ तु दहेद् देहम् अनन्तरम्। योजनं देशिकैः कार्यं रक्षार्थं भोग्यकर्मणाम्॥ ज्ञानाग्निस् सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्। मुक्तौ कर्मणि देवाज्ञावशतो नास्ति तल् लयः॥
13. तत्रैव 4.57- यथा मलसमोपेतं कनकं वह्निशोधितम्। प्रध्वस्ताशेषदोषोऽयं निर्मलश्चावशिष्यते॥
14. तत्रैव 4.58-59पू.- धारणाभिस्तथा ध्वस्तपापौघो निर्मलः पुमान्। अधिकारवशाद् भूयो देहित्वम् प्रतिपद्यते॥ दीक्षितो यः पुमान् साक्षाज् जीवन्मुक्तस्य उच्यते।
15. तत्रैव 4.59...कृत्वैव योजनं पश्चात् ततस् तत्[त्]वानि भावयेत्॥ ; पूर्वकामिकागम 4.60-61- त्रितत्त्वं पञ्चतत्त्वं वा नवतत्त्वमथापि वा। पञ्चविंशति षट्त्रिंशद् एकं वा ऽध्यात्मिकं तु वा॥ दीक्षायाम् उदितं यत् तु तद् वद् अत्रापि कारयेत्। पञ्चतत्त्वक्रमाद् वक्ष्ये शोधनं देहशुद्धये॥
16. तत्रैव 4.62-66पू.- निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिश्च नाभसी। एताः कलास्ताभिरेव व्याप्तं सर्वमिदम् जगत्॥ मन्त्राः पदानि वर्णैश्च व्याप्तानीह समन्ततः। वर्णास्तु भुवनैर्व्याप्तास्तत्त्वैर्व्याप्तानि तानि तु॥ कलाभिस्तानि तत्त्वानि व्याप्तानीह कलाः क्रमात्। शोधनीया विभाव्यैवं पञ्चपञ्चाध्वगर्भिताः॥ वर्णचिह्नाकृतिगुणैः मन्त्रमन्त्रेशपूर्वकैः। यद् ध्यानं प्रतिपर्वं तु प्राणायामसमन्वितम्॥ तदत्र धारणा प्रोक्ता विषनिर्हरणादिवत्।
17. तत्रैव 4.77- प्राणायामं समासेन कथयामि विशेषतः। रेचकं पूरकं चैव कुम्भकञ्च त्रिधाऽभ्यसेत्॥
18. तत्रैव 4.85-88- ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखं कल्प्य संसारपादपम्। पूरकार्द्धेन पार्थिव्या हेयोपादेयवित्सुधी॥ आप्यायितं तद्वारुण्या पूरका परभागतः। पत्रपुष्पफलोपेतं स्निग्धं वैराग्यशस्त्रतः॥ च्छेदयित्वा तद् आग्नेय्या कुम्भकेन विशोष्य च। ज्ञानानलेन निर्दग्धं पादाङ्गुष्ठादिकान्तकम्॥ रेचकेनाथ वायव्या भस्मीभूतं दिशो दश। प्रलीनम् अन्त्यया शुद्धं निर्मलं व्योम भावयेत्॥

बनाना।[19] उस नए शरीर में, उपयुक्त मन्त्र और मुद्रा के साथ, आचार्य एक शुद्ध आत्मा[20] का आवाहन करते हैं और न्यास करते हैं। आचार्य मालामन्त्र[21] को सिर से पैर तक रखते हैं, फिर अक्षरन्यास और तत्त्वन्यास करते हैं। अंत में वह अपने हृदय में पूजा करता है, अपनी नाभि में हवन करता है और भ्रूमध्य स्थित समाधि तक पहुँचता है। स्पष्ट रूप से यहाँ ध्यान में सक्रिय कल्पना सम्मिलित है जो साधक को शिव की पूजा करने के लिए उनके स्तर तक पहुँचने के कार्य के लिए समर्थ करती है।

आत्मशुद्धि के बाद, साधक स्थानशुद्धि करता है जिसमें वह अंतरिक्ष को एक प्राकार और सुरक्षा के लिए एक खाई से घिरा हुआ देखता है।[22] वह इसे एक मन्त्र से मजबूत भी करते हैं।

जब अभिषेक के लिए कलश स्थापित किए जाते हैं, तो वह शिवकुम्भ के लिए आसन की परिकल्पना[23] करते हैं। वह शिव के मन्त्र-शरीर की भी कल्पना करते हैं।

पूजा शुरू करने से पहले, वह द्वारपूजा करते हैं, जहाँ वह गर्भगृह के प्रवेश द्वार के विभिन्न हिस्सों में कई विशिष्ट देवताओं की कल्पना करते हैं।[24]

फिर वह लिंग का अभिषेक करता है।

विभिन्न अनुष्ठानों के दौरान भगवान को विभिन्न आसनों पर बैठे हुए देखा जाता है। आवाहन के दौरान पद्मासन, स्नान के दौरान अनंतासन, अर्चना के दौरान विमलासन, नैवेद्य के दौरान योगासन और अन्य प्रयोजनों के लिए सिंहासन की कल्पना की जाती है।[25]

फिर वह पूजा के लिए लिंगपीठ तैयार करता है।

तब आचार्य पूजा के क्रम में[26] दिव्यदेह की कल्पना करते हैं और 'जीवोऽस्मिन् शिवे' का अनुभव करते हैं कि जीव और शिव एक ही हैं। जैसे घास की गति हमें निराकार हवा दिखा सकती है, उसी प्रकार आसन आधारशक्ति से व्याप्त है। आचार्य उचित दृष्टि से हृदयमन्त्र के साथ कूर्मासन में इस शक्ति का आवाहन करते हैं।[27] फिर वह आसन में आसनात्मक अनन्त (आदिशेष) का आवाहन करता है।[28]

वह आसन के चार चरणों के रूप में

19. तत्रैव 4.89- महामायाञ्च विक्षोभ्य शाक्तं देहं प्रकल्पयेत्। आप्लाव्य चामृतेनैव विद्याङ्गं विन्यसेत् ततः॥
20. तत्रैव 4.90- इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिलोचनं मातृकात्मकम्। आवाह्य तत्र चात्मानं मुद्रया पुष्पमन्त्रयुक्॥
21. तत्रैव 4.91-92- ईशानं मूर्ध्नि विन्यस्य मुखे तत्पुरुषम् न्यसेत्। अघोरम् हृदये न्यस्य गुह्ये वामम् प्रकल्पयेत्॥ सद्योजातम् न्यसेत्पादे तत्तन्मुद्रासमन्वितम्। मूर्धादिपादपर्यन्तं मालाब्रह्माणि विन्यसेत्॥
22. तत्रैव 4.200- तालमुद्रा त्रयं कृत्वा प्राकारं हेतिना स्मरेत्। तद्बहिः परिघां ध्यात्वा कवचेनैव मन्त्रतः॥
23. तत्रैव 4.259पू.- आसनं संप्रकल्प्यास्मिन्कुम्भे मूर्तिमनुस्मरेत्।
24. तत्रैव 4.279पू.- रूपसंस्थानभावैस्तु गन्धपुष्पादिभिः क्रमात्।
25. तत्रैव 4.284उ.-285- ...आवाहनासनं पद्ममनन्तं स्नानकर्मणि॥ विमलञ्चार्चने विद्यान्नैवेद्ये योगमासनम्। वस्त्रादीन्यन्यकर्माणि सिंहासने प्रकल्पयेत्॥
26. तत्रैव 4.288-290- अर्चनाविधिपटले — आसनासनिसद्भावं ज्ञात्वा यजनम् आरभेत्। आसनं द्विविधं प्रोक्तं देहजीव विभेदतः॥ शुद्धविध्यान् ततो ऽनन्ताद्यासनम् परिकीर्तितम्। महामायावसानं तु दिव्यदेहं विचिन्तयेत्॥ जीवोऽस्मिन् शिव एव स्याद् एवं त्रिविधकल्पनात्। यल्लघु व्यापकं तद्धि व्याप्तं हि तद् अधिष्ठितम्॥
27. तत्रैव 4.291-292 अर्चनाविधिपटले — तृणवद् वायुना दृश्यम् धार्यते जायते यया। साऽधारशक्तिर् न्यस्तव्या पूर्वं कूर्मशिलासने॥ चन्द्रांशुनिर्मला सौम्या चतुर्वक्त्रा चतुर्भुजा। दुग्धाब्धिसदृशाकारा कल्पिता हृदयार्णगा॥
28. तत्रैव 4.293-294- अर्चनाविधिपटले — अनन्तम् नीलसङ्काशम् अनेकफणमण्डितम्। हृदये ऽञ्जलिसंयुक्तम् एकवक्त्रम् चतुर्भुजम्॥ क्षीराब्धितस् समुत्पन्नसरोरुहसमाकृतिम्। तत्राधारे हृदा मन्त्री विन्यसेदासनात्मकम्॥

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का आवाहन करते हैं, जो कि आदिशेष के वीर्यभूत हैं।[29] फिर वह बन्धन और मुक्ति दोनों के लिए उत्तरदायी दो शक्तियों, इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति का आवाहन शीर्ष पर, उचित रंगों में[30] करते हैं। फिर आचार्य लिंग के आधार पर, कमल की पंखुड़ियों पर आठ शक्तियों का अङ्ग, आयुध, वाहन एवं परिवार के साथ आवाहन करते हैं। आठ दिशाओं में आठ सिद्धियों और आठ धातुओं का आवाहन किया जाता है। वह कर्णिका[31] में आदिशक्ति मनोन्मनी का आवाहन करते हैं और उन सभी की बिल्वपत्रों[32] से पूजा करते हैं। वह कमल की पंखुड़ियों के अग्रभाग में और कर्णिका के चारों ओर में सूर्य, चंद्रमा और अग्नि के तीन उज्ज्वल मण्डलों की कल्पना करते हैं। फिर वह उचित मन्त्रों से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का आवाहन करता है और उनके उपयुक्त रूपों की कल्पना करता है।[33]

उसमें वह तीन प्रकार की आत्मा- भूतात्मा, जीवात्मा, परमात्मा; शिवाग्नि के तीन प्रकार — बालाग्नि, यौवनाग्नि और वृद्धाग्नि तथा तीन गुण सत्त्व, रज और तमस् का आवाहन करता है।[34] आचार्य एक बार फिर इस बात पर ध्यान देते हैं कि ब्रह्मांड पृथ्वी तत्त्व से लेकर शुद्धविद्या तत्त्व तक कैसे व्याप्त है। इस प्रकार, आचार्य पूजा के लिए लिंगपीठ की स्थापना करते हैं।

फिर वह लिंग में भगवान सदाशिव का आवाहन करता है।

फिर आचार्य लिंग की नाभि में सूर्य और चंद्रमा के मंडल से बनी ईश्वर तत्त्व की एक जाज्वल्यमान मूर्ति का आवाहन करते हैं जो अग्नि के स्तम्भ की तरह चमकती है।[35] आचार्य लिंग के शीर्ष पर सदाशिव का आवाहन करते हैं। ऐसा वह दीक्षा के समय उसे दिए गए विशेष मन्त्र (मूर्तिमन्त्र, सदाख्यमन्त्र) से करते हैं। वे सबसे पहले सदाशिव के स्वरूप का ध्यान करते हैं।

ध्यानश्लोक

29. तत्रैव 4.295-297पू. आर्चनाविधिपटले — तद् वीर्यभूता धर्माद्याः चतुष्कोणस्थपादुकाः। सिंहाकारसितार्कांशुपीतकृष्णनिभाः शुभाः॥ अन्योन्यवीक्षणैस् सिंहैरनेकैः परिवारिताः। अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्यानि तानि तु॥ चित्रवर्णस्वरूपाणि दिक्षु गात्राणि कल्पयेत्।
30. तत्रैव 4.297-298पू. अर्चनाविधिपटले — अधश्छदनमूर्ध्वञ्च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत्॥ बन्धमोचनहेत्वादि शक्तिद्वयमयं द्वयम्।
31. तत्रैव 4.303उ.-304पू. अर्चनाविधिपटले — ...मण्डलत्रयमर्केन्दुवह्न्याख्यं स्वत्वरूपतः॥ दलान्तं केसरान्तञ्च कर्णिकान्तं प्रकल्पयेत्।
32. तत्रैव 4.298उ.-303पू. अर्चनाविधिपटले — नैर्ऋत्यादींश्च दिग्भागे मेखलाधोर्ध्वसङ्गतम्। पद्मम् अष्टदलोपेतं सिद्ध्यष्टकसमन्वितम्। शक्तिकेसरसम्भिन्नं कर्णिकाशक्तिसंयुतम्॥ बिल्वपत्रैः हृदाकल्प्यम् लिङ्गमूले विशेवतः [विशेषतः]। वामा ज्येष्ठा च रौद्री च काली चैव ततः परम्॥ कलविकरणी देवी बलविकरणी तथा। बलप्रमथिनी चैव सर्वभूतदमन्यपि॥ पूर्वादीशानपर्यन्तं केसरेषु दलेषु च। मनोन्मनीं कर्णिकायां विन्यसेद् धृदयेन तु॥ वामाद्याश्शक्त्योरक्ताः श्वेताभास्स्यान्मनोन्मनी।
33. तत्रैव 4.304उ.-310 अर्चनाविधिपटले — ...ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च मण्डलत्रयदेवताः॥ ब्रह्माणञ्च चतुर्वक्त्रञ्चतुर्बाहुविभूषितम्। कमण्डलुचरं रक्तं दण्डहस्तं प्रजापतिम्॥ अक्षमालाधरं दिव्यं पद्महस्तं सुलोचनम्। ध्यात्वा पत्रेषु विन्यस्य सर्वकिल्बिषनाशनम्॥ अतसीपुष्पसङ्काशं शङ्खचक्रगदाधरम्। पीताम्बरधरं दिव्यं वनमालाविभूषितम्॥ स्फुरन्मकुटमाणिक्यकिङ्किणीजालमण्डितम्। ध्यात्वा विष्णुं महात्मानं केसरेषु निवेशयेत्॥ शङ्खकुन्देन्दुधवलं शूलहस्तं त्रिलोचनम्। सिंहचर्मपरीधानं शशाङ्ककृतशेखरम्॥ नीलकण्ठं वृषारूढं रुद्रं ध्यात्वा विशेषतः। कर्णिकायां निवेश्यैनं महापातकनाशनम्॥
34. तत्रैव 4.311- अर्चनाविधिपटले — तत्रैवात्मत्रयं न्यस्य गुणत्रयम् अतः परम्। वह्नित्रयञ्च तत्रैव विन्यसेत् प्रविभागशः॥
35. तत्रैव 4.324उ.-325- अर्चनाविधिपटले — ...मण्डलत्रितयेभ्युत्थाम् अनलस्तम्भ सन्निभाम्॥ मूर्तिमीश्वरतत्त्वान्तां लिङ्गनाहे तु विन्यसेत्। हृत्सम्पुटम् अजातं वै मूर्तिमन्त्रम् उदाहृतम्॥

मूर्तियों का प्रयोजन ध्यान को केंद्रित करने में सहायता करना है, ध्यान में सहायता करना है। यह केवल प्रतिनिधिस्वरूप या सौन्दर्यपरक नहीं है, बल्कि एक गूढ़ आध्यात्मिक पारलौकिक अर्थ रखता है। वर्णनात्मक छन्द जो देवता या एक स्वरूप की कल्पना करने में मदद करते हैं, ध्यानश्लोक कहलाते हैं। ध्यानश्लोक आवाहन और उपयोग के लिए एक विशिष्ट ऊर्जा रूप है। यह पारलौकिक अर्थ देवता की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होता है जिसे ध्यानश्लोक के साथ देखा जाता है और प्राण-प्रतिष्ठा के अनुष्ठान का उपयोग करके आवाहन किया जाता है।

ये न केवल आदिशैव साधकों के लिए, बल्कि विशिष्ट देवताओं के लिए मूर्तियाँ बनाने में शिल्पी के लिए भी अत्यन्त उपयोगी हैं।

उदाहरण के लिए सूर्य की पूजा करते समय पूर्वकामिकागम कहता है, "अपने ध्यानश्लोक के साथ सूर्य का ध्यान करने के बाद, व्यक्ति को सूर्य की तत्काल उपस्थिति का आवाहन करना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए..."[36]

सदाशिव का वर्णन[37] इस प्रकार है—

भगवान सदाशिव 16 साल के खूबसूरत हैं, जो मन्त्र— मन्त्र रूपी सिंह के सिंहासन पर सफेद कमल पर शांति से बैठे हैं, शुद्ध स्फटिक की तरह चमक रहे हैं, उनके केश घुंघराले हुए हैं, उनकी तीन आँखें चमक रही हैं, उनके सिर पर सूर्य और अर्धचन्द्र है। उनके पाँच चेहरे और दस कन्धे हैं, जो कानों के कुण्डल, कमर की मेखला, बाजूबंद, कंकण, हार और अन्य आभूषणों से सुशोभित हैं। वह अपने दाहिने हाथों में शूल, परशु, खड्ग, वज्र और अग्नि धारण करते हैं, अपने बाएँ हाथों में अभय मुद्रा, पाश, घण्टा, नाग और अंकुश धारण करते हैं।

उनकी तीन आँखें इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति का प्रतीक हैं। उनके हाथों में स्थित अस्त्र-शस्त्र विभिन्न शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। पाँचों मुख अलग-अलग रंग और भाव के हैं। ऊर्ध्व ईशान मुख स्फटिक रंग का, राजसी भाववाला, तीन आँखों वाला और कानों में कुंडल से सुसज्जित है। वे एक अर्धचंद्र धारण करते हैं। पूर्व में तत्पुरुष लाल भूरे रंग के सिंह के समान गर्जना करने वाले, उग्र आँखों वाले, उभरी हुई नाक, सुंदर गाल और मुस्कुराते हुए होंठों वाले हैं। दक्षिण में अघोर कृष्ण वर्ण के है, दाँत निकले हुए तथा मुँह खुले हैं, जीभ साँप की तरह लपलपाती है और सिर पर कपाल है, उलझ हुई जटा साँप से बंधे होते हैं। वामदेव उत्तर की ओर मुड़े हुए हैं, केसर रंग के और चमकीले हैं, मधुमक्खियों के समान काले घुँघराले बाल हैं, सोने के आभूषण पहने हुए हैं, कुंकुम तिलक से सुशोभित हैं। पश्चिम में सद्योजात चन्द्रमा के रंग के हैं।

निराकार सदाशिव के इस देदीप्यमान रूप की कल्पना करके साधक उन्हें लिंग में आमन्त्रित करते हैं और उनकी पूजा करते हैं।

योग के रूप में ध्यान

36. तत्रैव 3.154- ध्यात्वा सूर्यम् यथान्यायम् उपस्थानम् षडङ्गतः। मेलामन्त्रम् ततो जप्त्वा शिवशक्ति विभागतः॥
37. तत्रैव 4.330-334- पञ्चास्यं दशदोर्दण्डं स्फटिखाभं त्रिलोचनम्। शान्तं चन्द्रकलाचूडं सर्पसन्नद्धसञ्जटम्॥ मन्त्रसिंहासनासीनं श्वेतपद्मोपरिस्थितम्। कुण्डलैः कर्णिकैहरिः कटीसूत्रोदरबन्धनैः॥ केयूरैः कटकैश्चैव छन्नवीरैश्च संयुतम्। षोडशाब्दयुतं कान्तं सुप्रसन्नं स्मिताननम्॥ शूलं परशुखड्गं च वज्रं वह्निं च दक्षिणे। अभयं पाशमन्यं च घण्टां नागाङ्कुशौ तथा॥ प्रासादाभयखड्वाङ्गशक्तिशूलस्तु सव्यतः॥ वामे डमरुसर्पाक्षमालेन्दीवरपूरकैः।

यद्यपि अनुष्ठानिक-पूजा सक्रिय दृश्यता को नियोजित करती है तथापि ऐसे अवसर भी आते हैं जहाँ गहन चिन्तन की योग-संबन्धी प्रक्रिया के रूप में ध्यान की आवश्यकता होती है।

1. भस्मस्नान के दौरान, विभूति या पवित्र भस्म से स्नान करते हुए, व्यक्ति को भस्म को अपनी हथेली में लेने के लिए कहा जाता है, और धारणा और ध्यान38 की यौगिक प्रक्रिया के माध्यम से, 'परमीकृत' करते हैं— इसे सर्वोच्च बनाते हैं— "सर्वोच्च भगवान के साथ अपनी सत्ता पर विचार करें।"
2. 'मातंग-आगम' के विद्यापाद में ऋषि मातंग को कैलाश पर्वत पर अवस्थित किया गया है,[39] जो शिवध्यान की स्थिति में विद्यमान हैं, "भगवान् शिव पर एक-केंद्रित ध्यान में दृढ़ता से स्थापित।" कहा गया है।
3. भूतशुद्धि के आरम्भ में साधक को शिव का ध्यान करने और उनके साथ एक होने की कल्पना करने के लिए कहा जाता है।[40] यहाँ स्मरण का उपयोग याद करने के लिए और ध्यानत्व का उपयोग ध्यान/ध्यान केंद्रित करने के लिए परस्पर किया जाता है और ध्यान के क्रम में शिव, एकीभाव के साथ एकता को 'अनुभव' करना है। उनसे 'मानस' पर अंकुश लगाने के लिए भी कहा जाता है जो शरीर में व्याप्त है और इसे हृदयगुह्य या ब्रह्मरन्ध्र में विलीन कर देता है।
4. जब साधक भावना और ध्यान के साथ मानसिक रूप से शिव की पूजा करता है,[41] तो ऐसा कहा जाता है कि इससे उसे शिव के साथ एकाकार होने में सहायता मिलती है, जैसे कि गरुड़ का ध्यान करने वाला साधक विष के प्रभाव को कम करने में सक्षम होता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार, ध्यान-मन्त्र, भावना और मुद्रा के साथ -साथ नित्यपूजा- मन्दिर पूजा का एक अभिन्न अंग है। सक्रिय दृश्य के अर्थ में ध्यान और यौगिक चिन्तन के रूप में ध्यान दोनों के लिए जगह है।

मन्त्र के साथ सक्रिय दृश्य के रूप में ध्यान देवता के स्वरूप को स्थापित करता है। ध्यान श्लोक साधक को देवता के विशिष्ट पहलू की कल्पना करने में मदद करता है। ध्यान आवाहन प्रक्रिया को मजबूत करता है।

इसके अतिरिक्त अस्त्र और विभिन्न प्रकार के आसन सहित विभिन्न अन्य अनुष्ठान सामग्री बनाने में भी ध्यान की आवश्यकता होती है।

ध्यानश्लोक मूर्तिकारों को देवता के विशिष्ट रूप की कल्पना करने और प्रस्तुत करने में भी मदद करता है।

ध्यान (शिव के साथ) एकता के योगिक चिन्तन के रूप में साधक को अपनी इंद्रियों पर लगाम लगाने और पूजा की भावना में गहराई तक जाने में मदद करता है।

38. तत्रैव 3.60-62- भस्मस्नानम् जलस्नानात् कोटिपुण्यगुणं भवेत्। यदि उद्धूलननैव स्नायान्नित्यमुदङ्मुखः॥ गृही यथाङ्गमालभ्य तिलकैर्वा त्रिपुण्ड्रकैः। संगृह्य मुष्टिमात्रं तु दक्षहस्तेन भस्मनः॥ धारणाद्ध्यानयोगेन विशोध्य परमीकृतम्। विधाय शोधयेन्मूल ब्रह्माङ्ग मनुभिस्तथा॥
39. मातङ्ग आगम : विद्यापाद, 1.5- ज्ञानाग्निदग्धकलुषो वृत्ताम्भःक्षालितात्मवान्। शिवध्यानैक चित्तात्मा समाधावास्थितः सुधीः॥
40. पूर्वकामिकागम 4.181- स्थाणुस्थाने स्मरेल्लिङ्गं स्फटिकाभं महोज्ज्वलम्। तन्मध्यगं शिवं ध्यात्वा तदेकीभावमाश्रितः॥
41. तत्रैव 4.189-190- मनसा कल्पितैर्द्रव्यैः मनःक्लृप्ते तु मन्दिरे। मनसा भावयन्नित्यं पूजयेत् परमेश्वरम्॥ ध्यायन् गरुडतां यद्वद् गुरुर्निर्विषताफलम्। प्राप्नोति तद्वदत्रापि फलमिष्टमवाप्नुयात्॥

आदिशैव के पूजक की यह समृद्ध आन्तरिक जगत् दैनिक की पूजा में दिखाई नहीं देती है, लेकिन पूजा की पूर्णता और फल के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह जगत् भी चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान के एक जटिल जाल में सिद्धान्त से जुड़ी हुई है, जिससे मन्दिर की पूजा सिद्धान्त की एक व्यावहारिक व्याख्या और एक दैनिक जीवन का अनुभव बन जाती है जो अदृश्य दुनिया तक पहुँचने के लिए शैवागम के आध्यात्मिक सूत्र का उपयोग करती है जिससे सारी सृष्टि को लाभ पहुँच सके।

ग्रन्थ सूची

प्राथमिक स्रोत :

1. कामिकागम, पूर्वभाग : (1975) स्वामीनाथ शिवाचार्य (सम्पादक) मद्रास: साउथ इंडियन अर्चक एसोसिएशन।
2. कामिकागम, उत्तरभाग : (1988) स्वामीनाथ शिवाचार्य (सम्पादक) मद्रास: साउथ इंडियन अर्चक एसोसिएशन।
3. रौरवागम : 3 खंड. (1972, 1985, 1988), एन आर भट्ट. (सम्पादक) पांडिचेरी: फ्रेंच इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी।

द्वितीयक स्रोत :

1. Bühnemann, G. (1991). The Ritual for Infusing Life (prānapratiṣṭhā) and the Goddess Prāṇaśakti. Zeitschrift Der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft, 141(2), 353–365. http://www.jstor.org/stable/43378334
2. Chari, V. K. (2002). Representation in India's Sacred Images: Objective vs. Metaphysical Reference, Bulletin of the School of Oriental and African Studies, University of London, 65(1), 52–73. http://www.jstor.org/stable/4145901
3. Davis, Richard. (1991). Ritual in an Oscillating Universe – Worshipping Śiva in Medieval India. Princeton, NJ: Princeton University Press.
4. Duraiswamy, Deepa (2021). Temple Management in the Āgama-s with Special Reference to Kāmikāgama, India: Indic Academy.
5. Monier-Williams, Monier (1899, 1964). A Sanskrit-English Dictionary. London: Oxford University Press. ISBN 0-19-864308-X. Retrieved 2008-12-09 from "Cologne University" at http://www.sanskrit-lexicon.uni-koeln.de/scans/MWScan/index.php?sfx=pdf

***

असमिया माधव कंदली रामायण

दशरथजी का विवाह प्रसंग

डॉ. नरेन्द्रकुमार मेहता
'मानसश्री', मानस शिरोमणि, विद्यावाचस्पति एवं विद्यासागर
सीनि. एमआईजी-103, व्यास नगर, ऋषिनगर विस्तार,
उज्जैन (म.प्र.) पिनकोड 456010
Email : drnarendrakmehta@gmail.com,

असम के राजा महामाणिक्य (1330-1370ई.) के दरबारी कवि माधव कंदली ने राजा को असमिया भाषा में रामकथा सुनाने के लिए वाल्मीकि-रामायण एवं अन्य रामकथा के ग्रन्थों के आधार पर इसकी रचना की थी। इस रामायण की विशेषता है कि इसमें उन्होंने रामकथा के पात्रों में मानवीय भावनाएँ भरी हैं, अतः इसे आध्यात्मिक जगत् में उतना आदर नहीं मिल पाया। किन्तु काव्य के रूप में इसे बहुत ख्याति मिली। 15वीं शती में इस रामायण के आदिकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड नष्ट होगे, जिसे श्रीमन्त शंकरदेव ने बड़ी आस्था के साथ पूरा किया। इसी आदिकाण्ड में दशरथ के तीनों विवाह का प्रसंग विस्तार से आया है। इस प्रसंग का वर्णन यहाँ किया गया है।

श्रीरामकथा के अल्पज्ञात दुर्लभ प्रसंग

प्रायः सभी श्रीरामकथाओं में शिव-पार्वती विवाह एवं श्रीराम-सीता के विवाह का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। महाराज दशरथजी के तीन विवाह का वर्णन लगभग नहीं के बराबर वर्णित होता है। असमिया माधव कंदली रामायण में महाराज दशरथजी के विवाहों का वर्णन एक अनोखी पहिचान लिए हुए है। महाराज दशरथजी का इस मलयालम रामायण में इनके विवाह प्रसंगों का विस्तृत वर्णन है, अतः पाठकों एवं नई पीढ़ी को जानने के उद्देश्य से इन विवाह प्रसंगों का संक्षिप्त में वर्णन किया गया है।

दशरथजी के साथ कौशल्या का विवाह प्रसंग

सुबलित भुजयुग बासुकी समान।
बज्र तो अधिक तान शरर सन्धान॥
महा यशराशि प्रकाशमय त्रैलोक्यत।
भये तरतरि सुरासुर नाग यत॥

(असमिया माधव कंदली रामायण आदिकाण्ड 181)

राजा दशरथजी की वीरता के बारे में कवि माधव कंदली कहते हैं कि वलय से शोभित उनकी दोनों भुजाएँ मानो शेषनाग के समान हैं। उनके बाणों का निशाना वज्र से अधिक कठोर था। तीनों लोकों में उनका यश प्रकाशमान था और उनके भय से सारे सुर-असुर और नाग थरथराते थे।

कोशल राजार जीउ कौशल्या सुन्दरी।
त्रैलोक्यत याक रूपे नाहि पटन्तरी॥
सबगुणे आनन्दिता आति महासती।
तांक बिहा करिलन्त प्रथमे नृपति॥

(—तदेव : आदिकाण्ड 182)

कोशल राजा की पुत्री सुन्दरी कौशल्या थी, जिसके रूप की तुलना तीनों लोकों में किसी के साथ नहीं हो सकती थी। सभी गुणों से सम्पन्न वह महासती थी जिसके साथ राजा दशरथजी ने सर्वप्रथम विवाह किया।

राजा दशरथजी में जितने गुण थे उससे भी कुछ अधिक कौशल्या में थे। ऐसी पत्नी पाकर राजा दशरथजी की मनोकामना अति आनन्द से पूर्ण हुई। कौशल्या के समान पतिव्रता तीनों लोकों में नहीं थी, वह सदा राजा दशरथजी की सेवा-शुश्रूषा करती थी। अज राजा के पुत्र दशरथजी अपनी पत्नी कौशल्या के साथ रत्न-जड़ित भवन (महल) में अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करने लगे।

दशरथजी का कैकेयी के साथ विवाह प्रसंग

केकय राज्य में केकय नामक राजा थे। वे दान, मान, वंश, धर्म और शील से परिपूर्ण सारे गुणों से सुशोभित संसारभर में प्रसिद्ध थे। उनकी कैकेयी नाम की पुत्री थी, जिसकी तुलना तीनों लोकों में किसी से नहीं की जा सकती थी। उसका मुखड़ा पूर्णिमा के चाँद से भी अधिक आभामय था। केकय राजा की ऐसी श्रेष्ठ कन्या के लिए वह योग्य वर की तलाश करते रहते थे। किस प्रकार कन्या के लिए योग्यवर प्राप्त हो ऐसा सोच विचार कर राजा केकय ने स्वयंवर सभा का आयोजन किया।

राजा ने देश-देश में दूत भेजकर कैकेयी के स्वयंवर की सूचना दी। ऐसा सुनकर कि कैकेयी का स्वयंवर है, सारे राजा अपने-अपने हाथी, घोड़े, रथ और प्रजा के साथ सुसज्जित होकर कैकय नगर में इकट्ठे हुए। राजा केकय ने उन सब राजाओं का सम्मान किया। केकय नरेश का एक पुत्र था। उसका नाम युधाजित था। वह पितृभक्त और अनेक गुणों से सम्पन्न था। जितने राजा स्वयंवर-सभा में योगदान करने आए थे, सभी को रत्न-जड़ित भवन रहने के लिए दिए गए। सारे राजा जिस समय बैठे थे उसी समय राजा दशरथ वहाँ पहुँच गए। घोड़े, हाथी और सेना से सुसज्जित वे उसी नृप-समाज में जा खड़े हो गए। केकय राजा ने देखा तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सम्मान के साथ उनको सिंहासन दिया। दशरथ के सम्मुख सारे राजा यो आभाहीन हो गए ज्यों सूर्य के उदय से नक्षत्रगण हो जाते हैं। आदर के साथ झारी लेकर राजा ने उनके पैर धोये और छह अर्घ्यों के साथ उनकी पूजा की। उनको षट-रस और पंच-अमृत सम्मिलित भोज्य पदार्थों से भोजन कराया। इसके बाद रात हो गई। राजा ने सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत की। सबेरे स्नान-दान आदि करके वे सभा में आकर बैठ गए।

सभी राजाओं के बीच राजा दशरथ बैठे थे जिनके प्रताप के सम्मुख सारे राजा सकुचे हुए बैठे थे। राजा केकय अत्यन्त बुद्धिमान् थे, उन्होंने प्रत्येक राजा की यथायोग्य अर्चना की।

बुलिला सबाको पाचे सुमधुर वाणी।
कैकेयी नामत मोर आच्छे कन्याखानि।
अति शिष्टमती कन्या आसि समज्याक।
आपोन इच्छाये कन्या बरय याहाक
ताहाने हैबेक सिटो कन्या महासती।
एहि बुलि कैकेयीर पाशक नृपति॥
जिन गुरु ब्रह्मण क दिलन्त पठाइ।
आनियोक कन्या गैया सभाक आताई॥

(—तदेव : आदिकाण्ड 208-209)

इसके अनन्तर उन्होंने मधुर वचनों द्वारा सबसे कहा— कैकेयी नामक मेरी एक कन्या है वह बड़ी ही शिष्ट है। इस सभा में आकर वह अपनी इच्छानुसार किसी को भी वरण करेगी। इसके बाद वह कन्या महासती उसको अर्पण होगी। इतना कहने के बाद राजा

ने अपनी बेटी के पास अपने गुरु ब्राह्मण को भेज दिया कि वह कन्या को अब इस सभा में ले आए।

यह सुनकर पुरोहित ने जाकर कन्या से कहा— हे कैकेयी पिता के कहने पर तुम सभा में जाओ। वहाँ बहुत-सी सुन्दर स्त्रियाँ उसको बीच में रखकर चारों ओर से घेरकर चलने लगी। कैकेयी का अनोखा रूप देखकर सारे राजा मोहित हो गए। उनका मन चंचल हो उठा। चाँद से मुखड़े वाली कैकेयी बड़े हाव-भाव के साथ निकट आने लगी और मन्द सौम्य गति से वह सभा की ओर पाँव बढ़ाने लगी। एक हाथ में पानी की झारी लिये और दूसरे हाथ में फूलमाला लिए वह राजाओं के बीच अपने योग्यवर को देखने लगी। सखियों के साथ वह सुन्दरी एक-एक राजा को देखती हुई आगे बढ़ने लगी। सारे राजा मन ही मन कहने लगे, यह सुन्दरी मेरा ही वरण करेगी।

इसके अनन्तर सुदर्शन नामक एक राजा ने सब राजाओं से यह कह सुनाया कि हे राजागण! सुदक्षिणा नामक कन्या की कहानी सुनो। मगध देश के राजा की एक कन्या सुदक्षिणा थी जो कि पद्मिनी वर्ग की नारी थी। वह सारे गुणों से सम्पन्न थी, अद्भुत रूपवती थी और त्रैलोक्यमोहिनी भी थी। हाथ में माला लेकर वह कन्या सभा में वर ढूँढती हुई चलने लगी। दिलीप नामक सूर्यवंश के राजा भी उन्हीं राजाओं के बीच बैठे थे जो सारे सद्गुणों से विभूषित थे। सुदक्षिणा ने जाकर राजा दिलीप के गले में माला डालकर उन्हें वरण कर लिया। यह महासती भी सुदक्षिणा जैसी सारे गुणों की खान है। ऐसा कौन सा पुण्यवान या भाग्यवान है, जिसका यह वरण करेगी? इसी प्रकार से राजा एक-दूसरे से कन्या का रूप बखानने लगे। इसके बाद सुन्दरी कैकेयी धीरे-धीरे उस स्थान पर गई जहाँ दशरथजी थे। उनको देखकर वह कन्या मन ही मन सोचने लगी यही मेरे पति होंगे। इनके समान संसार में दूसरा राजा कोई नहीं है। जितने सारे राजा आए हैं इनके सामने कोई भी इनके समान नहीं है। मानो कामदेव हो। इन्हीं का मैं वरण करूँगी। ऐसा सोचकर उसने अपने मन को दृढ़ किया और बड़े ही आदर से दशरथजी के गले में उसने पुष्पमाला डाल दी। चरणों पर हाथ रखकर उनको प्रणाम किया और इस प्रकार श्रेष्ठबाला ने दशरथजी को वरण किया। दशरथ जैसा जमाई पाने के कारण राजा केकय को अपार आनन्द प्राप्त हुआ। राजा केकय ने उन्हें दहेज के रूप में घोड़े, हाथी, रथ, दास दासी, सोना, चांदी, माणिक, मोती असंख्य पदार्थ दिए।

राजा दशरथ की मनोकामना पूर्ण हुई और वे कैकेयी को साथ लेकर महाकौतूहल के साथ वाद्य बजाते हुए अपने घर चले गए। राजा दशरथ अपनी पत्नी के साथ स्वर्ण निर्मित भवन में गए। दशरथके आने का सुनकर उनकी माँ इन्दुमती पुत्र-वधू को देखने आई। कैकेयी को देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ। उन्होंने पुत्र-वधू को अनेक अलंकार दिए। राजा दशरथ के कौशल्या और कैकेयी दो प्रधान रानियाँ थीं। उन दोनों रानियों से वे समान प्रेम करने लगे। दो भार्याओं के साथ राजा दशरथ बड़ा सुख अनुभव करने लगे।

दशरथजी के साथ सुमित्रा आदि सात सौ रानियों का विवाह

सिंहल द्वीप में सुमित्र नामक एक राजा थे जो कि सर्वसम्पन्न गुणों के स्वामी थे। उनकी सुमित्रा नामक एक कन्या थी, जो परम सुन्दरी थी और गुणों में भी अद्वितीय थी। सुमित्रा के विवाह करने का समय जानकर राजा सुमित्र ने पुरोहित (ब्राह्मण) को बुलवाया और कहा, हे गुरुवर राजा दशरथ के स्थान पर जाओ। तीनों लोकों में उनके समान दूसरा कोई राजा नहीं है। उन्हीं से मैं अपनी कन्या सुमित्रा का विवाह करूँगा। यदि उन्हें स्वीकार हो तो वे विवाह करने आ जाएं। इतना सुनकर ब्राह्मण पुरोहित राजा दशरथ के पास गया और उनसे सुमित्रा के गुणों का वर्णन किया। यह

सुनकर दशरथजी को बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने अपने पुरोहित वसिष्ठजी को बुलावा भेजा। अन्य मन्त्र और सभासदों को भी बुलवाया और सभी को संबोधित कर उन्होंने कहा—

बिहा करिबाक याइबो सुमित्रार थाने।
दिन तिनिमान थाकिबाहा सावधाने॥
निचिन आपोन पर अंधकार चित्त।
शून्य पाट देखि सबे चिन्तिबे अहित॥
जानि सबाहित थाकिवाहा सावधाने।
आसिबो हो आमितिनिदिन अवसाने॥
एह बुलि सभा बिसर्ज्जिया दशरथ।
सारथिक बोलन्त सत्वरे आन रथ॥

(—तदेव : आदिकाण्ड 233-234)

राजा दशरथजी ने कहा कि वे सुमित्रा से विवाह करने उनके स्थान पर जा रहे हैं— आप (मंत्रि) गण तीन दिन सावधानी से रहिएगा। चित्त अन्धकार मय होता है — अपना पराया किसी को भी पहचानता नहीं है— शून्य (खाली) सिंहासन देखकर सभी लोग अमंगल ही चिन्ता करेंगे। सभी लोगों का हित-चिन्तन करते हुए सावधानीपूर्वक रहना। मैं तीन दिन के उपरान्त आ जाऊँगा। इतना कहकर दशरथजी ने सभा विसर्जित की और सारथी से शीघ्र रथ लाने के लिए कहा।

यह सुनकर सारथि तुरन्त रथ ले आया और सुमित्र के ब्राह्मण को उस पर बैठाया। इसके बाद स्वयं राजा दशरथजी विवाह की सारी साज-सज्जा से सुसज्जित होकर, शुभ समय पर रथ में बैठ गए। हाथी, घोड़ों, रथ, सारे सैन्य और विभिन्न वाद्य-वादन के साथ दशरथजी मंगल-यात्रा पर चल पड़े। राजा दशरथ के नगर प्रवेश का सुनकर सिंहल द्वीप नरेश को हर्ष हुआ। नृपति अपने योग्य मित्र और पुरोहित के साथ सुमंगल सैन्य को लेकर अगवानी करने चले। आगे बढ़कर वे दशरथ राजा से मिले और विधिवत् उनकी अघ्र्य से पूजा की। सुमित्र ने कहा कि मुझे पुराने पुण्यों के कारण आपके चरणों के दर्शन प्राप्त हुए। सुमित्र ने दशरथजी से कहा कि तुम दान, धर्म, कुल, शील में सर्वश्रेष्ठ हो, तुम सातों द्वीपवाली पृथ्वी के अधिपति हो, सूर्यवंश में उत्पन्न तुम साक्षात् विष्णु की मूर्ति के समान हो। बल और पराक्रम हो, लोक-पालन में तुम सर्वशक्तिमान हो। सुमित्र तत्पश्चात् उन्हें अन्तरूपुर ले गए। एक स्थान पर विवाह की सारी समग्रियाँ पुष्प-गन्ध, ताम्बूल, चन्दन उपहार विभिन्न फल-फूल सुन्दर वस्त्र और अलंकार आदि इकट्ठे हुए। तोरण पर लम्बे ध्वज दण्ड पर पताकाएं लगाई गई। नाना प्रकार के वाद्य बजने लगे।

प्रभात होने पर राजा दशरथ ने उठकर स्नान किया, तर्पण और दान भी किया। इसके अनन्तर उन्होंने नान्दीमुख श्राद्ध भी किया। इस तरह नृपति ने देवता और पितरों का कार्य सम्पन्न किया। विवाह की शुभ घड़ी आई तब नृपति यज्ञ के स्थान पर बैठ गए। राजा सुमित्र ने मंगलकारी जय-वाद्य-वादन के साथ अपनी कन्या का सम्प्रदान उत्साहपूर्वक किया। कन्या के सहित उनके धन रत्न, दास-दासी, घोड़े रथ आदि दहेज के रूप में दिए। कन्या सुमित्रा से विवाह कर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए उनके आनन्द की सीमा नहीं रही। तदनन्तर विवाह के सारे शुभ कार्य समाप्त हुए और दशरथजी ने अयोध्या जाने के लिए विचार किया। तब राजा सुमित्र ने विनयपूर्वक कहा- हे महाशय! मेरी बेटी को यत्न से पालना। अबोध बच्ची तुम्हारे योग्य तो नहीं है, फिर दास समझकर उसका प्रतिपालन करना।

समप्रिला कन्याक सुमित्र महाराज।
दशरथ राजा चलिबाक भैला साज॥
कादि पारि आसि लाग लैला सेना यत।
सुमित्राक तुलिलन्त सुवर्णरथत
अयोध्यार पति सेहि रथे आरोहिला।
सुमंत्र चाबुक धरि धोराक डाकिला
चलि गैल रथ येन बिजुलीसंचार।
सेनागणे करे जय शबद जोकार॥

(तदेव : आदिकाण्ड 253-254)

इस प्रकार महाराज सुमित्र ने अपनी कन्या राजा दशरथ को सौंप दी। राजा दशरथ चलने के लिए सुसज्जित होने लगे। सम्पूर्ण सेना भी वहाँ निकट आकर खड़ी हो गई। सुमित्रा को स्वर्ण-निर्मित रथ में बैठाया गया। अयोध्यापति उसी रथ पर सवार हो गए। सुमन्त्र ने चाबुक पकड़कर घोड़े को पुचकारा। वह रथ यों चल पड़ा मानो बिजली चमककर चली गई। सारी सेना जय ध्वनि कर उठी।

सुमित्रा के साथ राजा परम कौतुक से अयोध्या नगर में उत्सुकता के साथ जा पहुँचे। राजा-दशरथ की माता इन्दुमती अपनी दोनों बहुओं-कौशल्या और कैकेयी के साथ मंगलाचरण आनन्दपूर्वक करने लगी। इसी प्रकार से नृपतियों में श्रेष्ठ दशरथजी ने एक-एक कर सात सौ विवाह किए। इनमें सबसे प्रधान तीनों महादेवियां हुई, सती सुमित्रा सुन्दरी कैकेयी और कौशल्या।

कैकेयीर रूपे मुहिलेक नृपतिक।
तांक स्नेह करे राजा सबातो अधिक

(-तदेव : आदिकाण्ड 260)

कैकेयी के रूप में नृपति (दशरथजी) को मुग्ध कर लिया, इसलिए राजा उसी से सबसे अधिक प्रेम करने लगे।

***

वाल्मीकि-रामायण में उक्त

आदित्यहृदय स्तोत्र की फलश्रुति

आदित्यहृदयं पुण्यं सर्वशत्रुविनाशनम्।
जयावहं जपं नित्यमक्षयं परमं शिवम्॥4॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम्।
चिन्ताशोकप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥5॥

"इस छिपे हुए बहुत ही सुच्चे (पवित्र) और सब बैरियों को मिटा डालनेवाले गुर का नाम है 'आदित्य हृदय' जिसे जपने या पढ़ने भर से सदा जीत ही जीत मिलती रहती है। यह ऐसा पक्का गुर है, जो न कभी मिट सकता, न कभी छीना सकता और न कभी कोई बुरा होने दे सकता। यह अच्छे से भी ऐसा बहुत अच्छा है कि बड़े से बड़ा पाप मिटा डालता है, सारी मन की घुटन और सारा दुखड़ा मिटाने के साथ बहुत बरसों तक जिलाए रखता है॥4-5॥"

(आचार्य सीताराम चतुर्वेदी कृत वाल्मीकि-रामायण हिन्दी अनुवाद से)

(-महावीर मन्दिर द्वारा शीघ्र द्वितीय संस्करण प्रकाश्य)

नायर-जाति की अक्षुण्ण सामाजिक प्रथाएँ

श्री राहुल सिंह गौतम

कलकत्ता विश्वविद्यालय से B.A. और रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय से M.A. (English)। भारतीय संस्कृति, इतिहास, उपासना सहित पौराणिक एवं तदनुकूल लौकिक साहित्य की पारम्परिक व्याख्या में विशेष रुचि।

अपनी प्राचीन परम्परा और संस्कृति बचाने से बचती है और वही हमें बचाती भी है- धर्मो रक्षति रक्षितः का यह सम्यक् अर्थ है। भारत के सुदूर दक्षिण में मालावार के क्षेत्र में स्वयं को परशुराम के द्वारा संरक्षित मानने वाली नायर जाति इसका अनूठा उदाहरण है। वे भलें चातुर्वण्य में शूद्र कहे जाते हों, किन्तु इन्होंने अपनी पूरी परम्परा को संजोकर रखी है। ये मूलतः नागदेवता, शिव, कार्तिकेय, कात्यायनी, भद्रकाली और कुछ लोकदेवताओं की उपासना करती है। उपासना में यन्त्रों के आलेखन का उपयोग करते हैं। इनकी दिनचर्या तथा संस्कार-सम्बन्धी आचारों को देखकर लगता है कि ये आजतक विशुद्ध वैदिक रीति-रिवाज को निभाते रहे हैं। इनमें मातृसत्तात्मक परिवार बहुत दिनों तक रहा किन्तु 1930ई. के बाद धीरे-धीरे पितृसत्तात्मक होने लगे हैं। तथापि इनके आचार-व्यवहार आज भी कमोबेश सुरक्षित हैं। इस प्रकार ये उत्तर भारतीय सनातनी परिवार के लिए संस्कृति एवं परम्परा के संरक्षण के परिप्रेक्ष्य में अनुकरणीय हैं।

उपक्रम :—

भारतवर्ष सांस्कृतिक विविधताओं का देश है। ऐसा कहते हैं कि यहाँ कोस-कोस पर पानी और चार कोस पर वाणी बदल जाती है। केवल स्थान ही नहीं, अपितु प्रत्येक समुदाय की भी अपनी निजी कुछ रीतियाँ और कुछ परामपरायें होती हैं; जो उन्हें औरों से पृथक् करती हैं। विशेषरूप से हिन्दू-धर्मावलम्बियों में यह प्रचुर रूप से प्रचलित है। कई जातियाँ कुल-परम्परा का निर्वाह करते हुए अपनी उन परम्पराओं का संरक्षण करती आ रही हैं। प्रस्तुत लेख में ऐसी ही एक जाति की कुछ अनोखी परम्परों का वर्णन किया जायेगा।

भगवान् परशुराम की कृपा और पुरुषार्थ से बसा है—भारत के दक्षिण का एक तटीय राज्य—केरल; जो अपने परिवेश, समुद्र, वर्षा, पर्यटन, नदियों और हरियाली के कारण अनुपम है। इसी राज्य में नायर-जाति का मुख्य निवास है। इनमें से अधिकतर नागवंशी माने जाते हैं, कुछ अग्निवंशी भी हैं। चातुर्वर्ण्य में इन्हें शूद्र माना जाता है। हालांकि गवेषकों का मत है कि ये व्रात्य क्षत्रियों के वंशज भी हो सकते हैं। नायर-जाति प्राचीनकाल से युद्धविद्या और 'कलारिपयात्तु' की मर्मज्ञ रही है। यह मूलतः नागदेवता, शिव, कार्तिकेय, कात्यायनी, भद्रकाली और कुछ लोकदेवताओं की उपासना करती है।

उत्तराधिकार

इस जाति में अन्य हिन्दुओं की तरह पिता का गोत्र नहीं, बल्कि माता का गोत्र ही मान्य एवं प्रचलित है। केरल के 'मूषिकवंश महाकाव्य' में इसके उद्गम का कुछ सीमा तक पता चलता है। एक मूषिकवंशीय राजा की बहन माता भद्रकाली की उपासना करती थी। देवी ने अपनी उस भक्ता को वरदान देते हुए यह कहा कि उसी का पुत्र राजा होगा। तब से नायरों में उत्तराधिकार माता के वंश से मिलता है।

विवाह

नायर-जाति की वैवाहिक पद्धति भी इसी प्रथा के अनुसार ढल गयी है। पूर्वकाल में नायर बालाओं का एक औपचारिक विवाह होता था; जो केवल एक समारोह होता था। यह छः मास की बालिका के लिए भी हो सकता था, पर अधिकतम ग्यारह वर्ष होते-होते यह समारोह किसी भी भांति सम्पन्न कर दिया जाता था। विवाह का समय आते ही नायरों की एक जाति-सभा बैठती थी ज्योतिषियों की सहायता से एक दिन नियत किया जाता था। जाति के वरिष्ठ लोगों की देख-रेख में पण्डाल सजता था और उसके मध्य में अष्टमंगल द्रव्य रखे जाते थे [जैसे धान से भरा एक बड़ा-सा पात्र, नारियल के फूल, दर्पण, अक्षत, शुद्धिसूचक श्वेत वस्त्र, वीरतासूचक एक बाण, एक जलता हुआ दीपक और चेप्पु (अर्थात् एक सौंदर्य प्रसाधन)।

विवाह दिन के किसी भी शुभ मुहूर्त में हो सकता था, पर साज-सज्जा और धूमधाम दिखने के लिए प्रायः शाम के मुहूर्त ही चुने जाते थे। विवाह के दिन प्रातः काल वधू को तेल लगाकर स्नान कराया जाता था और विविध आभूषण पहनाये जाते थे। यदि किसी परिवार के पास आभूषण न हों, तो सजातीय लोग उस दिन के लिए आभूषण उधार भी दे देते थे।

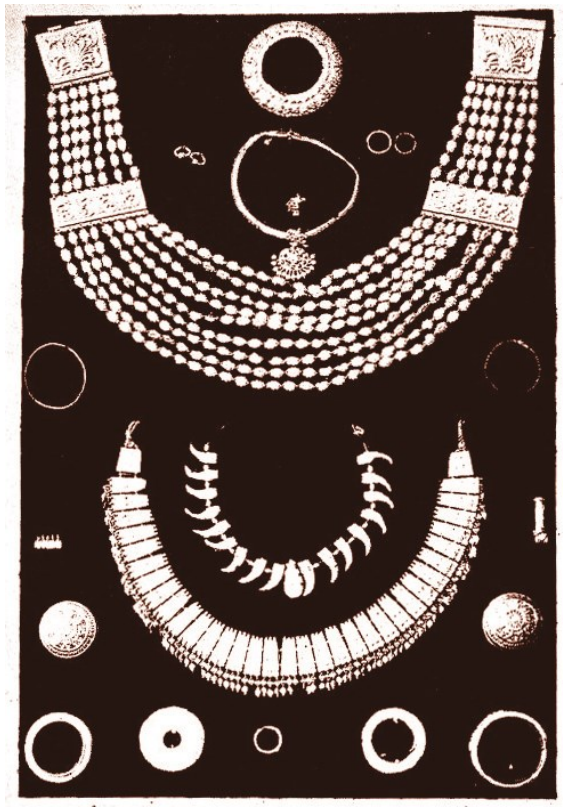

नायर महिलाओं के आभूषण

वर विवाह के एक दिन पहले वधूपक्ष के लोगों के साथ हाथी की सवारी करते हुए निकटतम मन्दिर में जाकर मंगलसूत्र को अभिमंत्रित करवाता था। उस रात वह निकट ही किसी घर में ठहराया जाता था। विवाह के दिन योद्धा के वेश में वर बारातियों को लिए आता था और वधूपक्ष के पुरुष उसका स्वागत करते थे। वधू का भाई वर के चरण पखारता था और उसके बाद विवाह-मण्डप की तीन अथवा सात घर प्रदक्षिणा करती हुई वधू मण्डप में प्रवेश करती थी। घर की सबसे ज्येष्ठ कन्या की बुआ का बेटा, नववधू की ओर से रेशम का एक श्वेत वस्त्र दूल्हे को अर्पित करता था। तत्पश्चात् वर अपनी वधू को कण्ठ में मंगलसूत्र पहना

देता था। विवाह का उत्सव स्वहार दिन तक चलता था, और चौथे दिन भेंट में आए श्वेत वस्त्रों को फाड़कर इस औपचारिक विवाह का विच्छेद कर दिया जाता था। यह भी सम्भव था कि कन्या फिर कभी अपने उस औपचारिक पति को जीवन भर न मिले।

नायर-जाति में मूल रूप से विवाह के कार्यकलाप 'सम्बन्धम्' के द्वारा निर्वाह किये जाते थे। कन्या अपनी रुचि के अनुसार वर चुनने को स्वतन्त्र थी; पर वह सजातीय हो (बुआ का बेटा सर्वोत्तम वर माना जाता था) अथवा ब्राह्मण या क्षत्रिय हो, तो ही समाज उस 'सम्बन्ध' को स्वीकार करता था। प्रतिलोम-विवाह गर्हित माना जाता था। इस 'सम्बन्ध' द्वारा स्त्री जिस पुरुष से जुड़ती, वही उसकी सन्तानों का पिता होता और उनके भरण-पोषण के लिए धन देता था। यहाँ कोई आवश्यक नहीं था कि मंगलसूत्र बाँधने वाला पुरुष ही उस स्त्री पर पति के अधिकार जता सकता हो। ध्यातव्य है कि जहाँ अन्य समाजों में बहुपत्नी की प्रथा व्याप्त थी, वैसा प्रचलन यहाँ नहीं था; क्योंकि ऐसा करना घृणित माना जाता था। नायर-जाति के उच्च वंशों में तो यह 'सम्बन्ध' भी आजीवन मान्य होता था। ऐसे कुलों की स्त्रियाँ प्रायः ब्राह्मण वर को चुनती थीं [केरल के नम्बूदिरी ब्राह्मणों में भी केवल ज्येष्ठ पुत्र वैदिक विवाह करने का अधिकारी था, अन्य सभी इसी रीति से नायर कन्याओं से विवाह करते थे।

'सम्बन्ध' की रीत बहुत सादगीभरी थी। जो ब्राह्मण उसका इच्छुक हो, वह अपनी इच्छा नायर घर के मुखिया को बताता था। शुभ मुहूर्त में वह ब्राह्मण एक शुद्ध वस्त्र लेकर स्त्री को भेंट करता था और उस 'सम्बन्ध' का आरम्भ इस प्रकार से समाज में घोषित कर दिया जाता था। यदि परिचितों में इसका निर्वाह करना हो, तो बिना किसी तामझाम वस्त्र प्रदान करके इस 'सम्बन्ध' का आरम्भ कर दिया जाता था। चाहे विवाह हो या 'सम्बन्ध'; दोनों ही अमन्त्रक होते थे।

प्रसव से पूर्व :—

विवाह की भांति नायर-जाति की गोदभराई भी अपने आप में अनोखी थी। निश्चित मुहूर्त पर जाति के लोग आकर गर्भवती महिला को तेल लगाने के बाद स्नान करवाते और नए वस्त्र और आभूषण पहनाते। तत्पश्चात् महिला उत्तर दिशा से घर में प्रवेशकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाती थी। शुभ मुहूर्त आने पर गर्भवती महिला की मामी चांदी की कटोरी में इमली का रस भर देती। गर्भवती महिला का भाई अथवा मामा इस परम्परा के लिए रखी तलवार से उसके खुले मुख में एक-एक बूँद इमली का रस डालता जाता था; जिससे सन्तान में वीरता का गुण आ जाए। इसके बाद जाति के लोगों द्वारा पुनः नारियल के तेल का लेपन करके महिला को स्नान के लिए ले जाया जाता। इसके बाद उसे विविध प्रकार के धान्यों में से कोई एक चुनने को कहा जाता; जिससे लोग अनुमान करते थे कि गर्भस्थ शिशु लड़का है या लड़की। समारोह के पश्चात् गर्भवती महिला को भोजन के विषय में अनेक विधि-निषेधों का पालन किया जाता था।

प्रसव के बाद :—

प्रसव के बाद चौदह दिनों का जननाशौच (सूतक) लगता था। महिला और शिशु को एक प्रसूतिका गृह में रखा जाता था और शिशु की नाल काटे जाने तक कोई पुरुष, यहाँ तक कि कुँवारी कन्याओं (छोटी बच्चियों को छोड़कर) को भी वहाँ जाने की मनाही थी। जन्म के अट्ठाईसवें दिन 'एरुपड़ेट्टु केट्टुक' नामक एक रीत का पालन किया जाता था; जिसमें कुदृष्टि-निवारण के लिए बच्चे की कमर में सोने या चाँदी का अथवा आभूषणयुक्त एक सूत्र बाँधा जाता था। तत्पश्चात् ज्योतिषी को बुलवाकर जन्मनक्षत्र के अनुसार नामकरण-संस्कार होता था।

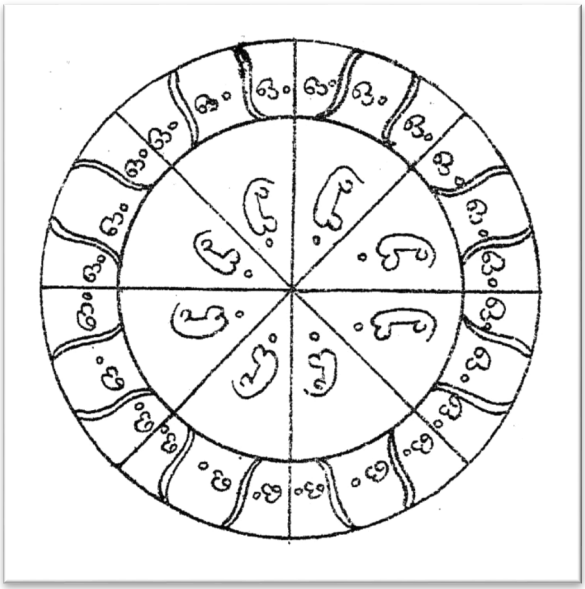

नायरों द्वारा पूजित काल भैरवी यन्त्र

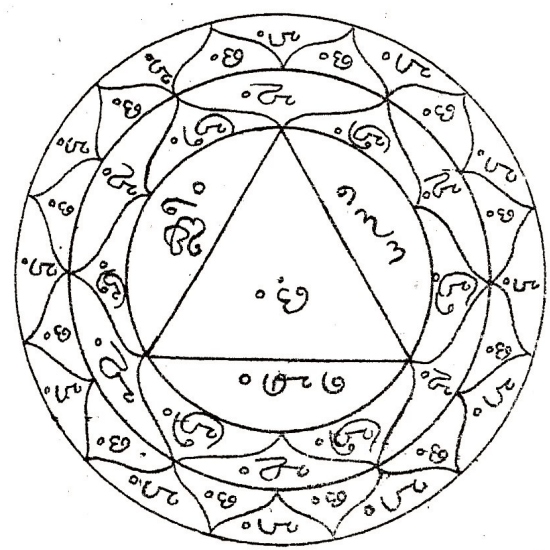

नायरों द्वारा पूजित महाशूलिनी यन्त्र

जन्म के छः महीनों तक शिशु माता के घर से बाहर नहीं लाया जाता था। छः महीने बीतने के बाद ही माता संतान को लेकर उसके पिता के घर ले जाती थी; जहाँ पान और तम्बाकू के पत्तों से उसका स्वागत होता था। इसके पश्चात् 'चोरुकोड़ा' [अर्थात् अन्नप्राशन] का आयोजन होता था। उस दिन जाति और परिवार की महिलाएँ माता और शिशु को मन्दिर ले जाती थीं और वहाँ शर्करा और अक्षत का नैवेद्य चढ़ातीं थीं। तत्पश्चात मन्दिर के सरोवर में स्नान करके पुनः दर्शन करने आतीं और उनके साथ परिवार का ज्येष्ठ पुरुष भी रहता था। वह पुरुष मन्दिर से मिलने वाले अन्नप्रसाद का कुछ अंश अपनी तर्जनी अंगुली से उस शिशु के मुख में दाल देता था। लोगों का विश्वास था कि अन्नप्राशन करने वाले के गुण शिशु में आ जाते हैं। अतः यह कार्य प्रायः शिशु के मामा या दादा ही करते थे।

अन्त्येष्टि :–

नायर समुदाय में अन्त्येष्टि भी अन्य हिन्दुओं से कुछ भिन्न विधा से होती है। घर के वृद्धों का तो मरणोपरान्त दाह संस्कार हो जाता था, पर अन्य सदस्यों को भूसमाधि दी जाती थी। मरणोपरान्त शव को स्नान करवाकर श्वेत वस्त्र पहनाये जाते थे और केले के पत्तों पर लिटाया जाता था। वृद्धों के मरने पर हर सदस्य उनके लिए एक-एक कफ़न लाता था; जिससे लपेटकर शव को जलाया जाता था। चिता आम के काष्ठ से बनती थी और शव का सिर दक्षिण की ओर रखा जाता था। एक कलश—जिसके छिद्र से जल गिरता हो—को लेकर मृतक का भांजा या छोटा भाई तीन प्रदक्षिणाएँ करता था और फिर मुखाग्नि देता था। यह सब कुछ एक 'मारन' [जो नायरों में पुरोहित तुल्य होता था] के निर्देशानुसार होता था। अगले चौदह दिनों तक परिवार में अशौच का पालन किया जाता था और वे किसी के भी सम्पर्क में नहीं आते थे। इ स अवधि की समाप्ति पर 'मारन' आकर स्नान के लिए

एक नायर सन्त युवक

तेल दे जाता था। स्नान के बाद लौटने पर 'मारन' उन्हें जल के सिंचन से शुद्ध करता था। तत्पश्चात् एक ब्राह्मण आकर गृहशुद्धि करता था; जिसके बाद परिवार द्वारा कुछ उत्सव और मृत्युभोज का आयोजन किया जाता था।

यह सब कुछ हो जाने के बाद घर का कोई एक सदस्य इकतालीस दिनों की अथवा एक वर्ष की दीक्षा लेता था; जिसके नियम थे : ब्राह्मण के संग निवास, ब्रह्मचर्य, नित्य दो बार स्नान और सात्त्विक दिनचर्या का पालन। दीक्षित के लिए नाखून ओर केश काटना वर्जित था। यदि दीक्षित एक वर्ष के बाद दीक्षा पूरी कर घर लौटता है, तो विविध प्रकार के उत्सवों के साथ उसका स्वागत किया जाता था।

उपसंहार :—

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कैसे भारत का हर कोना अपने आपमें देश, काल और पात्र के अनुसार अपनी अपनी रीति-रिवाज़ों का पालन करता है। देखने में ये सब बहुत अलग-सी लगती हैं, पर कुछ मूलभूत नियमों द्वारा अन्य हिन्दुओं कि जीवनचर्या के साथ अपना मेल भी कहती हैं।

[विशेष अध्ययन हेतु देखें : Nayars of Malabar, F. Fawcett, 1915]

***

रामचरितमानस की रामकथा

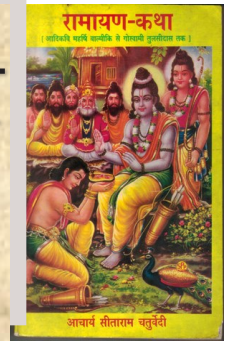

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

यह हमारा सौभाग्य रहा है कि देश के अप्रतिम विद्वान् आचार्य सीताराम चतुर्वेदी हमारे यहाँ अतिथिदेव के रूप में करीब ढाई वर्ष रहे और हमारे आग्रह पर उन्होंने समग्र वाल्मीकि रामायण का हिन्दी अनुवाद अपने जीवन के अन्तिम दशक (80 से 85 वर्ष की उम्र) में किया वे 88 वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। उन्होंने अपने बहुत-सारे ग्रन्थ महावीर मन्दिर प्रकाशन को प्रकाशनार्थ सौंप गये। उनकी कालजयी कृति रामायण-कथा हमने उनके जीवन-काल में ही छापी थी। उसी ग्रन्थ से रामायण की कथा हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इस अंक में रामचरितमानस से सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड की कथावस्तु संकलित हैं।

सुन्दरकाण्ड

हनुमान् ने जाम्बवन्त से कहा— मैं चला तो जा रहा हूँ पर जबतक मैं सीता की टोह लेकर लोट नहीं आता तबतक यहीं बैठे मेरी बाट देखते रहिएगा। यह कहते ही अपनी धमकसे पहाड़ को धरती में धँसाते हुए वे उछलकर उड़ चले। बीच में उठे हुए मैनाक पर्वत से वे यही कहकर आगे बढ़े चले गए—

रामकाज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ बिस्राम॥

आगे वे देखते क्या हैं कि सुरसा मुँह बाए निगलने को आई खड़ी है। वह जैसे-जैसे मुँह चौड़ाए जाय वैसे ही वैसे हनुमान् भी दुगुने बढ़ते चले जायँ। जब वह सौ योजन (1280 किलोमीटर) चौड़ा मुँह फाड़ खड़ी हुई तब हनुमान् नन्हें से बनकर मुँह में घुसकर बाहर आ कूदे। सुरसा उनकी बुद्धि और उनके बलका लोहा मानकर लौटी चली गई। आगे बढ़नेपर छायाके सहारे पकड़ खींचनेवाली छायाग्राहिणीको पछाड़कर वे लंका में मच्छर-जैसे नन्हेंसे बनकर घुसे ही थे कि लंकिनीने आ टोका। हनुमान् ने उसे ऐसा तमाचा जड़ा कि उसकी आँखों के आगे तारे छिटकने लगे। उसने चुपचाप कह दिया कि अब राक्षसों के बुरे दिन आ गए हैं। आप बेखटके लंका में जाकर अपना काम साध डालिए।

भीतर जानेपर उन्हें राम नाम लिखा हुआ विभीषणका घर दिखाई पड़ गया। विभीषण ने उन्हें सीता की दशा और उनसे मिलने का सब उपाय समझा बताया। अशोक वाटिका में वे अशोक की पत्तियों की घनी झुरमुट में जा छिप बैठे। वे सीता से मिलने की जुगत निकालने की उधेड़बुन में पड़े ही थे कि उन्हें मन्दोदरी के साथ रावण वहाँ आता दिखाई दे गया। उसने आते ही जब सीता को बहुत डराया धमकाया, बहुत बहलाया-फुसलाया तब सीता ने तिनके की ओट देकर (कि तुझे तो मैं तिनके जैसा तुच्छ समझती हूँ। ऐसा मुंहतोड़ उत्तर दिया कि उसने तलवार खींच निकाली। पर

मन्दोदरी उसका हाथ पकड़कर उसे खींचे लिवाती ले गई। पर चलते-चलते वह धमका गया कि महीने भर में तू राह पर न आई तो मेरी तलवार होगी और तेरा गला।

इतने में सीता को डराने-धमकाने वाली राक्षसियों से त्रिजटा ने आकर कहा— यह सब क्या किए डाल रही हो? अभी मैंने सपना देखा है कि एक बन्दर ने आकर सारी लंका फूँक जलाई है, सारे राक्षसों को पछाड़ मारा है, सिर मुँडा रावण दक्षिण की ओर बढ़ा चला आ रहा है, विभीषण लंका का राजा हो गया है और सारी लंका में राम की दुहाई जा फिरी है। यह सुनना था कि राक्षसियों को पसीना छूटने लगा और वे तब तितर-बितर होकर इधर-उधर खिसक गईं।

तब अकेले में सीता ने त्रिजटा से कहा कि महीने भर में तो मरना ही है, तुम कहीं से आग सुलगवा मँगाओ तो सारा वखेड़ा ही छूट जाय। त्रिजटा बोली कि इतनी रात गए भला आग कहाँ मिल पावेगी? उसके जाते ही हनुमान् ने राम की अँगूठी टपका गिराई। उसे अंगारा समझकर ज्यों ही उन्होंने अँगूठी उठाई कि उसे देखकर वे अवाक् रह गईं— यहाँ यह कहाँसे आ गई? इतने में हनुमान् ने ऊपर बैठे-बैठे अबतक की सारी कथा उन्हें कह सुनाई। सीता के कहने पर उन्होंने सामने आकर राम का कुशल-समाचार देकर उनकी व्यथा कह सुनाई। उन्हें धीरज बँधाकर उनसे फल खाने की आज्ञा पाते ही उन्होंने सारी वाटिका तहस-नहस कर डाली, रखवालों को मार भगाया, रावण के पुत्र अक्षकुमार को यम का द्वार भेज दिखाया और फिर मेघनाद के ब्रह्मास्त्र के कारण उसके पाश में बंधे रावण के आगे आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने रावण को बहुत समझाया पर उसकी आँखों पर तो चर्बी चढ़ी पड़ी थी। जब वह हनुमान् को मारने उठ चला तब विभीषण के रोकने पर उसने कह दिया— तो इसकी पूँछ ही आग लगा जलाओ। पूँछ में आग का लगना था कि हनुमान् ने उछल-उछलकर विभीषण का घर छोड़कर सारी लंका राख कर डाली और पूंछ बुझाकर सीता से चूडामणि लेकर वे समुद्र के इस पार कूद आए। अपने साथियों के साथ मधुवन के फल खाते हुए वे झट सुग्रीव के पास जा पहुंचे। वहाँ राम को चूडामणि देकर हनुमान् ने सीता की सारी दशा कह सुनाई। रामने हनुमान् को गले लगाकर कहा कि तुम्हारे इस उपकार का बदला मैं कभी नहीं चुका पाऊँगा।

फिर तो सारी सेना कूदती-फाँदती समुद्र-तटपर जा पहुँची। उसी समय माल्यवान् और विभीषण ने रावण को जब बहुत समझाना चाहा तब उसने माल्यवान् को तो सभा से निकाल बाहर किया और विभीषण को एक लात उठा जमाई। इसपर विभीषण आपने चार मन्त्रियों के साथ सीधे राम के पास उड़ा चला आया। आते ही रामने उसे राजतिलक करके लंका का राजा बना दिया। वहाँ तीन दिनों तक राम बाट देखते रहे कि समुद्र अब आता है, अब आता है। पर जब समुद्र के आने के कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़े तब उन्होंने बाण निकाल चढ़ाया। अब तो समुद्रराम खलबला उठे और आकर हाथ जोड़कर कहने लगे कि आपकी सेना में नल-नील को वर मिला हुआ है कि वे जो पत्थर पानी में उठा डालेंगे वह पानी पर तैरता रह जायगा। आपने जो बाण उठा चढ़ाया है इससे द्रुमकुल्य के पापियों को जलाकर भस्म कर डालिए। यह कहकर समुद्र यह गया, वह गया।

॥ सुन्दरकाण्ड पूर्ण ॥

लंकाकाण्ड

राम की आज्ञा से नल और नील ने बात की बात में समुद्र पर पुल बना खड़ा किया और राम ने वहाँ रामेश्वर की स्थापना भी कर दी। वानरसेना उसपर से पार उतरकर लंका पर पत्थर जा बरसाने लगी।

यह सब सुनकर मन्दोदरी ने रावण को फिर बहुत समझाया पर उसके कानपर जूं तक न रेंगकर दी। उसने इस कान से सुना उससे निकाल दिया। जब सभा

में उसके सब मन्त्री हाँजी-हाँजी बजाने लगे तब उसके पुत्र (कुछ रामायणोंके अनुसार मन्त्री) प्रहस्त ने भी रावण को बहुत समझाया पर उसने किसी भी बात पर कान न दिया और ऊपर अटारी पर नाच-गाना सुनने उठा चला गया। विभीषण के बताने पर रामने ऐसा बाण उसपर खींच चलाया कि रावण के छत्र, मुकुट और मन्दोदरी के कर्णफूल सब नीचे जा बिखरे। फिर भी रावण चिकना घड़ा बना रह गया।

अंगद दूत बनकर गया

राम के भेजे हुए दूत अंगद ने भी जाकर रावण को बहुत समझाया, फटकारा और झाड़ा पर उसने सब सुनी अनसुनी कर दी और राम की निन्दा करने पर उतर आया। तब तो अंगद ने दाँत किटकिटाकर बड़े धमाके के साथ अपने दोनों भुजदण्ड ऐसे उठा पटके कि रावण औंधे मुँह गिरते-गिरते बचा, उसके सभासद् सिर पर पाँव रखकर भाग खड़े हुए और रावण के दसों मुकुट नीचे धरतो चाटने लगे जिनमें से कुछ मुकुट उठाकर अंगद ने राम के पास उछाल फेंके। अन्त में अंगद ने सभा में अपना पैर जमाकर कहा कि यदि तुममें से कोई मेरा पैर उठा हटा दे तो— "फिरहिं राम, सीता मैं हारी।" जब किसीके हटाए पैर न हट कर दिया तब रावण स्वयं उठ खड़ा हुआ। अंगद ने कहा— 'अरे मूढ! पैर पकड़ने हैं तो राम के पैर क्यों नहीं जा पकड़ता?' इसपर तो रावण खिसियाकर झेंपकर रह गया और अंगद लौट आया।

लक्ष्मण को शक्ति जगी

फिर तो घमासान युद्ध छिड़ गया। मेघनाद ने लक्ष्मण को ऐसी शक्ति खींच मारी कि वे मूच्छित हो गिरे।

[अन्य रामायणों के अनुसार रावण ने ही लक्ष्मण पर शक्ति चलाई थी।]

जब मेघनाद उन्हें उठाने चला तब वे उसके लाख उठाए न उठ पाए। तभी हनुमान् ने उन्हें उठाकर राम के पास ले जा लिटाया। जाम्बवन्त के कहने से वे द्रोणागिरि पर संजीवनी लेने चले गए। वहाँ मुनि का ढोंग बनाए बैठे कालनेमि को पछाड़कर वे पूरा का पूरा द्रोणागिरि ही उखाड़कर उठाए लिए उड़ चले। अयोध्या के ऊपर से उन्हें उड़े जाते देखकर भरत ने उन्हें राक्षस समझकर बाण से गिरा तो दिया पर पहचान लेने पर बड़ी क्षमा भी माँगी। हनुमान के आते ही संजीवनी का प्रयोग होने पर लक्ष्मण जी उठे।

कुम्भकर्ण और मेघनाद मारे गए

यह सुनकर रावण ने कुम्भकर्ण को जगा उठाया। उसने भी रावण को बहुत समझाया। पर अन्त में वह भी राम के हाथों मारा गया और लक्ष्मण के हाथों मेघनाद भी मार डाला गया।

फिर तो राम और रावण का बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। रावण के जितने सिर और हाथ कटते जाते थे उतने ही फिर निकलते जाते थे। तब विभीषण के बताने पर एक बाण मारकर राम ने पहले तो उसका नाभिकुण्ड सुखा डाला और फिर तीस बाणों से उसके सिर और हाथ काट गिराए। राम की आज्ञा से विभीषण ने रावण के सब अन्तिम संस्कार कर डाले और लक्ष्मण तथा सुग्रीव आदि को भेजकर राम ने विभीषण का राज्याभिषेक भी करा दिया।

राम की आज्ञा से हनुमान् ने सीता को यह सारा समाचार जा सुनाया। विभीषण ने सीता को स्नान आदि कराकर बड़े सम्मान के साथ राम के पास लिवा ले जा पहुँचाया। सीता के आने पर राम ने उन्हें बहुत ऊँच-नीच कह डाला। तब सीता ने लक्ष्मण से कहकर अग्नि जगवाई और कहा— 'यदि मन, वचन, कर्म से मैंने राम को छोड़कर किसी दूसरे का कभी भरोसा न किया हो तो अग्नि चन्दन के समान शीतल हो जाय।' यह कहकर वे अग्नि में जा बैठीं। अग्नि ने स्वयं प्रकट होकर सीता को राम के हाथ सौंप दिया।

राम के कहने से इन्द्र ने सब वानरों को जीवित कर उठाया। विभीषण से सत्कार पाकर सब वानर और विभीषण भी पुष्पक विमान पर चढ़कर राम के

साथ अयोध्या के लिये चल पड़े। मार्ग में सीता को सब स्थान दिखाते हुए राम त्रिवेणी तटपर आ उतरे और हनुमान् को भरत के पास भेजकर स्वयं भरद्वाज मुनि के आश्रम में चले गए। वहाँ से वे निषादराज से मिलते हुए अयोध्या की ओर चल पड़े।

॥ लंकाकाण्ड पूर्ण ॥

उत्तरकाण्ड

चौदह वर्ष बीतने में कुल एक ही दिन बचा रह गया था कि हनुमान् ने भरत को राम के आगमनका समाचार आ सुनाया। भरत ने झट यह समाचार सबसे जा कहा। सुनते ही सब बड़े धूम-धाम से राम के स्वागत के लिये निकल पड़े। पुष्पक विमान से उतरकर राम ने विमान को तो कुबेर के पास भेज दिया और फिर सबसे प्रणाम-नमस्कार और भेंट करके कैकेयी को राम ने जा समझाया जो बड़ी सहमी, उदास और झेंपी बैठी थीं। वशिष्ठ ने पूरी "विधि से राम का राज्याभिषेक सम्पन्न कर दिया।

सुग्रीव, जाम्बवन्त आदिका भरपुर सत्कार करके राम ने सबको बिदा कर दिया। अंगद तो जाना ही नहीं चाहता था पर राम ने उसे बहुत चुमकार- पुचकारकर और अपनी माला पहनाकर उसे भी किसी-किसी प्रकार बिदा कर दिया। निषादराज भी बिदा होकर चले गए।

राम-राज्य

राम के राज्य में सुख ही सुख आ छाया। वहाँ न तो किसी का किसी से वैर ही था, न कहीं छोटे-बड़े या धनी-रंक का भेद ही रह गया था। सब लोग अपने-अपने वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) के कर्तव्य का पालन करते हुए सदा वैदिक कर्म करते रहने में ही सुख मानते चलते थे। उन्हें न किसी का भय था, न शोक था और न कोई रोग ही सता पाता था। राम के राज्य में किसी को किसी प्रकार का दैहिक, दैविक और भौतिक कोई कष्ट होने ही नहीं पाता था। सभी लोग मिल-जुलकर बड़े प्रेम से रहते हुए अपने-अपने धर्म का पालन करते चलते थे। धर्म के चारों चरण (तप, शौच, दया और सत्य) उस समय सारे जगत् में आ जमे थे (सब लोग तपस्वी, पवित्र, दयालु और सत्य-निष्ठ बन गए थे) । स्वप्न में भी कहीं पाप का नाम नहीं रह गया था। वहाँ के सब स्त्री-पुरुष सदा राम की भक्ति में ही दिन-रात मग्न रहते थे, इसलिये सभी परम गति (मोक्ष) के अधिकारी हो गए थे। राम के राज्य में न तो किसी की छोटी अवस्था में मृत्यु ही होती थी न किसी को कोई पीडा ही होती थी। सब लोग बड़े सुन्दर और स्वस्थ थे। वहाँ न तो कोई दरिद्र रह गया था, न दुखी, न दीन, न मूर्ख और न शुभ लक्षणों से हीन। वहाँ किसी के मन में दम्भ का नाम तक नहीं रह गया था। सभी लोग धर्म के अनुसार काम करनेवाले और पुण्यात्मा थे। सभी नर-नारी बड़े बुद्धिमान्, गुणी, गुण का आदर करने वाले, पण्डित, ज्ञानी और दूसरोंका उपकार माननेवाले थे। किसी के मनमें न कोई कपट था न धूर्तता थी।

राम के राज्य में जिसे देखो वही उदार, परोपकारी और ब्राह्मणों का सेवक था। वहाँ के सब पुरुष एक-पत्नी-व्रत (अपनी एक पत्नी के अतिरिक्त दूसरी पत्नी न करनेका संकल्प) लिए हुए थे और सभी स्त्रियाँ मन, वचन और कर्म से सदा अपने पतियों की सेवा करती रहती थीं। राम के राज्य में न तो किसी को दण्ड दिया जाता था, न लोगों में भेद था। केवल मन को जीतने के लिये ही 'जीतो' शब्द सुनाई पड़ता था, किसी मनुष्य या देश को जीतने के लिये नहीं।

उस समय वन के वृक्ष सदा फूलते-फलते रहते थे। हाथी और सिंह एक घाट पानी पीते थे। सब पशु और पक्षी अपना स्वाभाविक बैर भुलाकर आपस में बड़े प्रेम से रहते-सहते थे। पक्षी मस्त होकर चहचहाते थे और अनेक प्रकार के पशु निर्भय होकर वन में आनन्द से विचरते थे। सदा शीतल, मन्द और सुगन्धित बयार

बहती रहती थी, भौंरे दिन-रात पुष्पों का रस ले लेकर मँडराते और गुनगुनाते रहते थे, लताएँ और वृक्ष माँगते ही तुरन्त मधु टपका गिराते थे, गौएँ भी ऐसी थीं कि जितना चाहो उतना दूध उनसे दूह लो। धरती पर चारों ओर हरी-भरी खेती लहलहाई रहती थी। इस प्रकार राम के राज्य में त्रेता में भी सत्ययुग आया दिखाई देने लगा था। पर्वतों ने मणियों की अनेक खानें खोल उभारी थीं। सभी नदियों में शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट, सुखप्रद जल बहने लगा था। समुद्र अपनी मर्यादामें बँधा रहता हुआ भी (अपनी लहरों से) रत्न (मोती आदि) उछाल-उछालकर तटपर बिखेर फेंकता चलता था। सभी सरोवरों में कमल ही कमल छाए खिले पड़े थे। चन्द्रमा अपनी (अमृतमयी) किरणें पृथ्वी पर छिटकाए रहता था। सूर्य उतना ही तपता था जितना आवश्यक होता था और मेघ भी उतना ही जल बरसाते चलते थे जितना चाहा जाता था।

राम प्रातःकाल सरयू में स्नान करके सभा में वशिष्ठ से वेद और पुराणों- की कथा सुना करते थे। भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी हनुमान् से राम की कथा सुनते रहा करते थे।

पार्वती के पूछने पर शिव ने उन्हें विस्तार से कागभुशुण्डि की कथा सुनाते हुए कहा कि कागभुशुण्डि सुमेरु पर्वत के उत्तर नील पर्वतपर पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान लगाते हैं, पाकड़ के नीचे जप और यज्ञ करते हैं, आम के नीचे बैठकर मानसिक पूजा करते हैं और वट के नीचे हरि की कथा सुनाया करते हैं। एक बार गरुड ने जाकर उनसे राम की भक्ति के सम्बन्ध में पूछ दिया। कागभुशुण्डि ने झट उन्हें सारी राम कथा सुना डाली और कहा कि केवल आपके मन में ही नहीं, नारद, ब्रह्मा, शंकर और सनकादिक के मन में भी मोह उत्पन्न हो जाया करता है। देखो! राम को जो लोग केवल राजा का पुत्र ही समझे बैठे हैं यह उनका अज्ञान ही है।

[गरुड के व्यामोह की यह कथा रामायण-महामाला से ली गई है।] कागभुशुण्डि कहने लगे– एक बार बचपन में जब मैं महाराज दशरथ के आंगन में जा पहुंचा तब चारों भाई भी मेरे साथ आकर खेलने लगे। मेरे मनमें मोह हो उठा कि सच्चिदानन्द भगवान् होते हुए ये कैसी बच्चों की-सी लीला किए जा रहे हैं। वे हँसकर मुझे पकड़ने झपट चले। जैसे-जैसे मैं आकाश में दूर उड़ता जाता वैसे ही वैसे उनकी भुजा भी पीछे पीछे बढ़ती चली आती। ब्रह्मलोक पहुँचने पर मैंने देखा कि उनकी भुजा में और मुझमें कुल दो अंगुल का अन्तर रह गया है। आँखें मूंदकर खोलने पर देखता क्या हूँ कि मैं अयोध्या में ही आया बैठा हूँ। उनके मुसकराते ही मैं उनके मुँह में जा पड़ा। उनके उदर में पहुँचकर देखता क्या हूँ कि वहाँ न जाने कितने ब्रह्माण्ड भरे पड़े हैं जिनमें भटकते हुए मुझे सैकड़ों कल्प निकल गए। जब उन्होंने देखा कि मैं व्याकुल हुआ जा रहा हूँ तब वे धीरे से हँस पड़े और मैं भक्क से मुंह से बाहर आ पड़ा। मेरे निवेदन पर उन्होंने उस समय मुझे ऐसी विशुद्ध भक्ति दे डाली कि तबसे मुझे किसी प्रकार की कोई माया कभी सता ही नहीं पाई। कागभुशुण्डि को प्रणाम करके गरुड़ चले गए।

इसके पश्चात् रामचरितमानस में कलियुग का बड़ा भारी गुण यह बताया गया है कि इसमें भगवान् का नाम स्मरण करने भर से वैसी ही मुक्ति मिल जाती है, जैसी सत्ययुग में योग से, त्रेता में तप से और द्वापर में यज्ञ करने से। फिर उसमें गुरु की भक्ति का महत्त्व और ज्ञान दीप का रहस्य भी बता दिया गया है।

॥ उत्तरकाण्ड पूर्ण ॥

॥ रामचरितमानस-कथा सम्पूर्ण॥

बोधकथा

दो मित्र थे। एक बहुत धनी था तो दूसरा बहुत पढ़ने-लिखने वाला था। लेकिन सामान्य से नियम से हटकर दोनों में बहुत गहरी आत्मीयता थी। एक दिने दोनों बगीचे में टहल रहे थे तो धनी व्यक्ति ने पढ़े लिखे मित्र से पूछा कि तुम्हें इस दुनियाँ में सबसे अच्छी चीज क्या लगती है? उसने तपाक से उत्तर दिया- "किताबें पढ़ना! मुझे तो किताबें पढ़ने मिल जाये तो लगता है कि संसार के सभी सुख मिल गये!"

धनी मित्र को यह उत्तर ठीक नहीं लगा। उसने कहा- "धन-दौलत में जो सुख है वह किताबें पढ़ने में कहाँ? किताबें पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है तब उसे फिर इसी संसार में लौटकर धन के लिए भटकना पड़ता है। धन हो तो उससे संसार के सभी सुख खरीदे जा सकते हैं!"

पढ़ने वाला मित्र बोला- "मुझे यदि किताबें मिल जायें तो मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ।"

दोनों में शर्त लगी। धनी मित्र ने कहा कि '12 वर्षों के लिए मैं तुम्हें एक कमरे में बंद कर दूँगा। वहाँ खाने-पीने की सारी सुविधा मौजूद रहेगी। जो किताब माँगोगे, तुम्हें उपलब्ध कराता रहूँगा। पर एक शर्त है कि किसी भी व्यक्ति से न तुम मिल पाओगे, न बात कर सकोगे। तुम्हें जो चाहिए कागज पर लिखकर खिड़की से गिराना होगा, सामान मिलता जायेगा। यदि तुम शर्त जीत जाओंगे तो तुम्हें मैं अपनी आधी सम्पत्ति दे दूँगा, लेकिन तुमने यदि भागने की कोशिश की तो तुम्हें मेरे यहाँ नौकरी करनी होगी।'

शर्त के अनुसार वह आदमी एक बंद कोठरी में रहने लगा और किताबें मँगाकर पढ़ने लगा। वर्षों बीत गये, पर उसने कभी भागने की कोशिश नहीं की। धनी मित्र ने अब उसकी कोठली का ताला भी खोल दिया, किबाड़ खोल डाले; ताकि वह आसानी से भाग सके। अब उसे शर्त जीत जाने पर आधी सम्पत्ति से हाथ धोने की चिन्ता सताये जा रही थी। पर किसी प्रकार वह शर्त निभाता गया।

जिस दिन बारह वर्ष पूरा होने वाला था उससे पूर्व की रात में वह यह सोचकर निकला कि आज मैं उसकी हत्या कर दूँगा, नहीं तो हमें आधी सम्पत्ति देनी होगी।

वह आधी रात उसके कमरे में पहुँचा तो उसे गायब देखा। उसे खुद शर्त जीत जाने की खुशी हुई। फिर उसने देखा कि बिछावन पर एक पत्र लिखा रखा था- "मेरे प्यारे मित्र! तुमने मुझे इन बारह वर्षों में जो दिया उसके बाद मेरे लिए वह संपत्ति तुच्छ है, जो मैं शर्त जीतने के बाद पा सकूँगा इसलिए मैं आज रात ही शर्त तोड़कर भाग हार रहा हूँ। तुम्हें तुम्हारी सम्पत्ति मुबारक हो, मुझे तुमने जो दिया वह मेरी सबसे बड़ी सम्पत्ति है।"

वह धनी आदमी शर्त जीतकर भी हारा हुआ अनुभव कर रहा था।

***

महावीर मन्दिर समाचार

मन्दिर समाचार

(जून, 2023ई.)

विराट रामायण मन्दिर का निर्माण कार्य विधिवत् आरम्भ- दिनांक- 20 जून, 2023ई.

पूर्वी चंपारण के केसरिया के निकट कैथवलिया-बहुआरा में रथयात्रा के दिन विजय मुहूर्त में पूजन के बाद हाइड्रोलिक रिंग मशीन से जब विराट रामायण मन्दिर के पहले भूगर्भ खंभे की ड्रिल जय श्रीराम के नारे के साथ आरम्भ हुई। इसीके साथ पटना के महावीर मन्दिर द्वारा बन रहे संसार के विशालतम मन्दिर का निर्माण कार्य शुरू हो गया। वर्ष 2012 में मन्दिर का भूमिपूजन हुआ था। कंबोडिया के अंकोरवाट मन्दिर से बड़े बन रहे इस मन्दिर का नाम पहले विराट अंकोरवाट मन्दिर था। कंबोडिया सरकार की आपत्ति और जमीन क्रय में देरी से विलंब हुआ। आखिरकार सभी बाधाओं को पार कर 270 फीट के सबसे ऊंचे शिखर के साथ 540 फीट चौड़े और 1080 फीट लंबे विराट रामायण मन्दिर का बनना शुरू हो गया। मन्दिर निर्माण प्रारंभ होने के अवसर पर महावीर मन्दिर न्यास के सचिव आचार्य किशोर कुणाल, ट्रस्टी और राजस्थान उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश जस्टिस एस एन झा, निर्माण कंपनी सनटेक के अधिकारी, जमीन दान करनेवाले मो इश्तियाक खान, निर्माण समिति के ललन सिंह और बड़ी संख्या में ग्रामीण मौजूद थे।

रामायण की झलक वाले 21 देवालय , 22 वें में होंगे भगवान कृष्ण

विराट रामायण मन्दिर में कुल 22 देवालय बनेंगे। एक देवालय गिरिधर गोपाल भगवान कृष्ण का होगा। बाकी के 21 देवालयों में धनुषभंग, विश्वामित्र आश्रम में भाइयों समेत श्रीराम की शिक्षा, अहिल्या उद्धार, शबरी के जूठे बेर, केवट प्रसंग, भरत मिलाप समेत रामायण के विभिन्न प्रसंगों को मूर्त रूप दिया जाएगा। विराट रामायण मन्दिर कैथवलिया-बहुआरा के जिस क्षेत्र में बन रहा है वहाँ जनकपुर से लौटती राम बारात के दूसरे दिन रूकने की मान्यता है। उस याद को संजोये रखने के लिए 120 एकड़ के परिसर में विवाह घर और धर्मशाला बनेंगे। अयोध्या से जनकपुर तक बन रहे राम जानकी मार्ग पर विराट् रामायण मन्दिर एक महत्वपूर्ण धार्मिक पड़ाव होगा।

2025 के महाशिवरात्रि तक विश्व के सबसे बड़े शिवलिंग की स्थापना

यह विराट रामायण मन्दिर तीन मंजिला होगा। मन्दिर में काले ग्रेनाइट की चट्टान से बन रहे विशाल शिवलिंग की स्थापना होगी। चेन्नई के निकट महाबलिपुरम में 250 टन वजन के ब्लैक ग्रेनाइट पत्थर की चट्टान को तराशकर मुख्य शिवलिंग के साथ सहस्रलिंगम भी बनाया जा रहा है। आठवीं शताब्दी के बाद सहस्रलिंगम का निर्माण भारत में नहीं हुआ है। शिवलिंग का वजन 200 टन, ऊंचाई 33 फीट और गोलाई 33 फीट होगी। यह विशालतम शिवलिंग रामेश्वरम् की याद कराएगा।

ऊंचे शिखरों का बनेगा नयी कीर्तिमान

मन्दिर का क्षेत्रफल 3.67 लाख वर्गफुट होगा। इसका सबसे ऊंचा शिखर 270 फीट का होगा। 198 फीट का एक शिखर होगा। जबकि 180 फीट के चार शिखर रहेंगे। 135 फीट का एक शिखर और 108 फीट ऊंचाई के 5 शिखर होंगे। इस प्रकार 180 फीट और उससे ऊंचे 6 शिखरों वाला विराट रामायण मन्दिर दूनिया में अकेला होगा। कंबोडिया के

अंकोरवाट मन्दिर का शिखर 220 फीट है। भारत में और भी मन्दिर बन रहे हैं जहाँ एक शिखर 270 फीट से ऊंचा हो सकता है। लेकिन एक साथ इतने ऊंचे शिखर विराट रामायण मन्दिर में ही देखने को मिलेंगे। विराट रामायण मन्दिर का पाइलिंग कार्य प्रारंभ होने के मौके पर पाइलिंग कराने वाली एजेंसी सनटेक इन्फ्रा के प्रबंध निदेशक गौरव गुप्ता मौजूद थे। नवंबर तक सभी 3102 पाइल पूरे कर लिए जाएंगे। निर्माण एजेंसी के अधिकारी श्रवण कुमार झा ने बताया कि विराट रामायण मन्दिर में पाइलिंग कार्य में 1050 टन स्टील और 15 हजार क्यूबिक मीटर कंक्रीट की खपत होगी। निर्माण में लगनेवाली सामग्रियां महावीर मन्दिर उपलब्ध कराएगा। आचार्य किशोर कुणाल ने बताया कि बगैर अग्रिम भुगतान के एजेंसी कार्य करेगी। कार्य के आधार पर भुगतान किया जाएगा।

विराट रामायण मन्दिर पटना से 120 कि.मी. तथा वैशाली से 60 कि.मी. की दूरी पर वर्तमान केसरिया-चकिया पथ पर अवस्थित है। यह मन्दिर चार गाँवों और तीन पंचायतों की सीमा में पड़ता है।

महावीर वात्सल्य अस्पताल में एक्टोपिक रप्चर की बीमार महिला की जान बचायी गयी।

महावीर वात्सल्य अस्पताल के डॉक्टरों ने एक्टोपिक रप्चर से ग्रसित महिला को ऑपरेशन टेबल पर 30 यूनिट खून और ब्लड कंपोनेंट्स चढ़ाकर उसकी जान बचायी। आमी, दिघवारा की 35 वर्षीया सरिता गुप्ता अचेत अवस्था में 20 जून को महावीर वात्सल्य अस्पताल पहुंची थी। कई अस्पतालों से रेफर होकर यहाँ आयी थी। आपात स्थिति में अस्पताल के डॉक्टरों ने उसे सीपीआर और जीवनरक्षक दवाइयां देकर वेंटिलेटर पर डाला। महिला की क्लिनिकल जांच और पूर्व की जांच रिपोर्ट देखकर यह पाया गया कि सरिता के गर्भाशय के बगल की नली में भ्रूण था। नली फटने से पेट में खून के थक्के और 3 से 4 लीटर खून जमा हो गया था। अत्यधिक रक्तस्राव के कारण उसका हीमोग्लोबिन स्तर घटकर 1.2 पहुंच गया था। मरीज को तुरंत ऑपरेशन थियेटर में लाकर उसका ऑपरेशन शुरू हुआ। महावीर वात्सल्य अस्पताल की स्त्री एवं प्रसव रोग विभाग की हेड डॉ अनामिका पांडेय के नेतृत्व में डॉ स्वपना, डॉ पुलक तोष, डॉ गीता की टीम ने एक घंटे से अधिक चली सर्जरी के द्वारा रक्तस्राव की जगह को बन्द किया। डॉ अनामिका पांडेय ने बताया कि मरीज को ऑपरेशन के दौरान 30 यूनिट ब्लड और ब्लड कंपोनेंट्स चढ़ाए गये। इसमें 8 यूनिट पीआरबीसी, 10 यूनिट एफएफपी, 6 यूनिट क्रायो और 6 यूनिट प्लेटलेट्स शामिल हैं। महावीर वात्सल्य अस्पताल के ब्लड बैंक प्रभारी डॉ एस कौशलेन्द्र ने बताया कि इमरजेन्सी हालात में बगैर किसी ब्लड डोनेशन और अन्य जरूरी औपचारिकता के तुरंत ब्लड मुहैया कराया गया। महावीर वात्सल्य अस्पताल के ब्लड बैंक में ब्लड के साथ ब्लड कंपोनेंट्स की सुविधा होने से मरीज की जान बचायी जा सकी। ऑपरेशन के बाद अगले दिन भी मरीज को ब्लड और ब्लड कंपोनेंट्स चढ़ाए गये।

***

व्रत-पर्व

आषाढ़, 2079-2080 वि. सं. (5 जून-3 जुलाई, 2023ई.)

पं. मुक्ति कुमार झा
ज्यौतिष परामर्शदाता, महावीर ज्योतिष मण्डप, महावीर मन्दिर, पटना

मौना पञ्चमी, श्रावण कृष्ण पञ्चमी, 7जुलाई, 2023ई.

मिथिला, बंगाल, मगध एवं उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में इस दिन नागपूजा मनायी जाती है। कुछ लोग कृष्णपक्ष की पञ्चमी में मनाते हैं, कुछ लोग शुक्ल पक्ष में। जिनके परिवार में जो परम्परा हो, उसी दिन मनायें।

2. मधुश्रावणी व्रतारम्भ (मिथिला), श्रावण कृष्ण पञ्चमी, 7 जुलाई, 2023ई.

मिथिला, बंगाल एवं उड़ीसा के कुछ क्षेत्रों में विवाह के पहले वर्ष नयी दुल्हन अपने मायके आकर इस दिन से 13 दिनों तक चलने वाली नाग-पूजा का अनुष्ठान आरम्भ करती है।

3. श्रावण प्रथम सोमवार, 10 जुलाई, 2023 ई.

4. कामदा एकादशी, श्रावण कृष्ण एकादशी, 13 जुलाई, 2023ई. (सबका)

5. याम्यायन संक्रान्ति कर्क संक्रान्ति, 17 जुलाई, 2023ई.

6. श्रावण द्वितीय सोमवार एवं सोमवती अमावस्या- 17 जुलाई, 2023ई.

(दिनांक 18 जुलाई, 2023 से 16 अगस्त, 2023 तक मलमास रहेगा। सौर पंचांग तथा चान्द्र पंचांग में प्रत्येक वर्ष लगभग 11 दिनों का अन्तर हो जाता है। अतः 3 वर्ष से पहले ही 32 मास, 18 दिन, 12 घंटा पर एक मलमास माना जाता है। भोजराज कृत राजमार्तण्ड में 'मलिम्लुचद्विराषाढचिन्ता' में 40वें श्लोक में इसकी गणना का सूत्र दिया गया है-

गतेऽब्दद्वितये सार्द्धे पञ्चपक्षे दिनत्रये।
दिवसस्याष्टमे भागे पतत्येकोऽधिमासकः॥

अर्थात् ढाई वर्ष पाँच पक्ष तथा तीन दिन बीतने पर दिन के 8वें भाग में एक मलमास पड़ता है।

यह मलमास में रुद्राभिषेक आदि महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हिन्दी के प्रख्यात कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द ने 1880ई. में पुरुषोत्म मास माहात्म्य का अनुवाद किया था, जिसका प्रकाशन धर्मायण की अंक संख्या 88 में हुआ है। पाठक इस मलमास के विशेष माहात्म्य वहाँ देख सकते हैं।)

7. श्रावण तृतीय सोमवार - 24 जुलाई, 2023

8. श्रावण चतुर्थ सोमवार 31 जुलाई, 2023ई.

9. श्रावण पंचम सोमवार 7 अगस्त, 2023ई.

10. श्रावण षष्ठ सोमवार, 14 अगस्त, 2023ई.

11. मधुश्रावणी व्रत समाप्ति (मिथिला), श्रावण शुक्ल तृतीया, 19 अगस्त, 2023ई.,

12. गणेश चतुर्थी, श्रावण शुक्ल चतुर्थी, 20अगस्त, 2023ई.

13. नागपञ्चमी, श्रावण शुक्ल पञ्चमी, 21 अगस्त, 2023ई.

इस दिन नागपूजा का वही अनुष्ठान होता है, जो कृष्णपक्ष की पञ्चमी तिथि को होता है। इसे मगध क्षेत्र में नगपाँचो कहा जाता है।

14. श्रावण सप्तम सोमवार - 21 अगस्त, 2023ई.

15. तुलसी-जयन्ती, श्रावण शुक्ल सप्तमी, 23 अगस्त, 2023ई.

इस दिन परम्परागत रूप से गोस्वामी तुलसीदास की जयन्ती मनायी जाती है।

16. पुत्रदा एकादशी, श्रावण शुक्ल एकादशी, 27 अगस्त, 2023ई. (सबका)

17. श्रावण अष्टम सोमवार - 28 अगस्त, 2023ई.

18. झूलन आरम्भ, श्रावण शुक्ल एकादशी, 27अगस्त, 2023ई.

इस दिन से श्रीकृष्ण झूलन आरम्भ होता है।

19. पूर्णिमा व्रत 30 अगस्त, 2023ई.

20. रक्षाबन्धन, श्रावणी उपाकर्म, श्रावण पूर्णिमा, संस्कृत दिवस, 31 अगस्त, 2023ई.

इस दिन पूर्णिमा तिथि प्रातकाल 7:53 तक ही है अतः यथासम्भव इससे पहले रक्षाबन्धन का पर्व मनाया जाना चाहिए। इस रक्षाबन्धन का मन्त्र इस प्रकार है-

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

***

रामावत संगत से जुड़ें

1) रामानन्दाचार्यजी द्वारा स्थापित सम्प्रदाय का नाम रामावत सम्प्रदाय था। रामानन्द-सम्प्रदाय में साधु और गृहस्थ दोनों होते हैं। किन्तु यह रामावत संगत गृहस्थों के लिए है। रामानन्दाचार्यजी का उद्घोष वाक्य– 'जात-पाँत पूछ नहीं कोय। हरि को भजै सो हरि को होय' इसका मूल सिद्धान्त है।

2) इस रामावत संगत में यद्यपि सभी प्रमुख देवताओं की पूजा होगी, किन्तु ध्येय देव के रूप में सीताजी, रामजी एवं हनुमानजी होंगे। हनुमानजी को रुद्रावतार मानने के कारण शिव, पार्वती और गणेश की भी पूजा श्रद्धापूर्वक की जायेगी। राम विष्णु भगवान् के अवतार हैं, अतः विष्णु भगवान् और उनके सभी अवतारों के प्रति अतिशय श्रद्धाभाव रखते हुए उनकी भी पूजा होगी। श्रीराम सूर्यवंशी हैं, अतः सूर्य की भी पूजा पूरी श्रद्धा के साथ होगी।

3) इस रामावत-संगत में वेद, उपनिषद् से लेकर भागवत एवं अन्य पुराणों का नियमित अनुशीलन होगा, किन्तु गेय ग्रन्थ के रूप में रामायण (वाल्मीकि, अध्यात्म एवं रामचरितमानस) एवं गीता को सर्वोपरि स्थान मिलेगा। 'जय सियाराम जय हनुमान, संकटमोचन कृपानिधान' प्रमुख गेय पद होगा।

4) इस संगत के सदस्यों के लिए मांसाहार, मद्यपान, परस्त्री-गमन एवं परद्रव्य-हरण का निषेध रहेगा। रामावत संगत का हर सदस्य परोपकार को प्रवृत्त होगा एवं परपीड़न से बचेगा। हर दिन कम-से-कम एक नेक कार्य करने का प्रयास हर सदस्य करेगा।

5) भगवान् को तुलसी या वैजयन्ती की माला बहुत प्रिय है अतः भक्तगण को इसे धारण करना चाहिए। विकल्प में रुद्राक्ष की माला का भी धारण किया जा सकता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र या ललाट पर सिन्दूरी लाल टीका (गोलाकार में) करना चाहिए। पूर्व से धारित तिलक, माला आदि पूर्ववत् रहेंगे। स्त्रियाँ मंगलसूत्र-जैसे मांगलिक हार पहनेंगी, किन्तु स्त्री या पुरुष अनावश्यक आडम्बर या धन का प्रदर्शन नहीं करेंगे।

6) स्त्री या पुरुष एक दूसरे से मिलते समय राम-राम, जय सियाराम, जय सीताराम, हरि -जैसे शब्दों से सम्बोधन करेंगे और हाथ मिलाने की जगह करबद्ध रूप से प्रणाम करेंगें।।

7) रामावत संगत में मन्त्र-दीक्षा की अनूठी परम्परा होगी। जिस भक्त को जिस देवता के मन्त्र से दीक्षित होना है, उस देवता के कुछ मन्त्र लिखकर पात्र में रखे जायेंगे। आरती के पूर्व गीता के निम्नलिखित श्लोक द्वारा भक्त का संकल्प कराने के बाद उस पात्र को हनुमानजीके गर्भगृह में रखा जायेगा।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (गीता, 2.7)

8) आरती के बाद उस भक्त से मन्त्र लिखे पुर्जा में से कोई एक पुर्जा निकालने को कहा जायेगा। भक्त जो पुर्जा निकालेगा, वही उस भक्त का जाप्य-मन्त्र होगा। मन्दिर के पण्डित उस मन्त्र का अर्थ और प्रसंग बतला देंगे, बाद में उसके जप की विधि भी। वही उसकी मन्त्र-दीक्षा होगी। इस विधि में हनुमानजी परम-गुरु होंगे और वह मन्त्र उन्हीं के द्वारा प्रदत्त माना जायेगा। भक्त और भगवान् के बीच कोई अन्य नहीं होगा।

9) रामावत संगत से जुड़ने के लिए कोई शुल्क नहीं है। भक्ति के पथ पर चलते हुए सात्त्विक जीवन-यापन, समदृष्टि और परोपकार करते रहने का संकल्प-पत्र भरना ही दीक्षा-शुल्क है। आपको सिर्फ https://mahavirmandirpatna.org/Ramavat-sangat.html पर जाकर एक फार्म भरना होगा। मन्दिर से सम्पुष्टि मिलते ही आप इसके सदस्य बन जायेंगे।

***

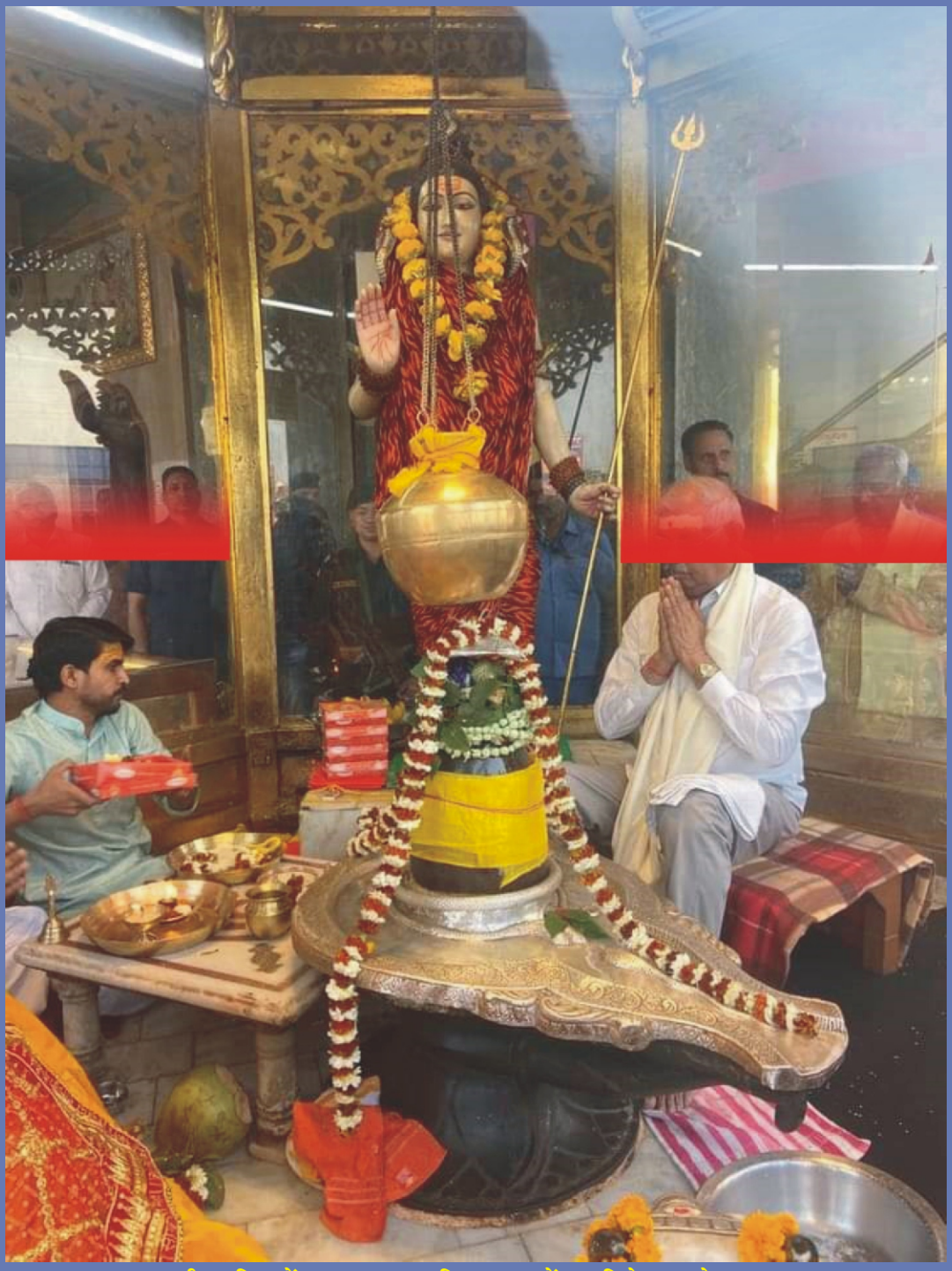

महावीर मन्दिर में प्रथम तल पर शिवमण्डप में रुद्राभिषेक करते यजमान

पत्रिका-पंजीयन सं. 52257/90

श्री महावीर स्थान न्यास समिति के लिए वीर बहादुर सिंह, महावीर मन्दिर, पटना- 800001 से ई-पत्रिका के रूप में https://mahavirmandirpatna.org/dharmayan/ पर निःशुल्क वितरित। सम्पादक : भवनाथ झा।